❀ ओ३म् तत्सत् ❀

SAHAJ MARGA

सहज मार्ग

वर्ष ५ — अंक ३

Year 5 — Number 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur. U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अंक का १)

प्रकाशक- श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट

शाहजहांपुर उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष)

विषय सूची

	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१	प्रार्थना		१
२	सम्पादक की बात		२
३	ब्रह्म ज्ञान—	समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जो महाराज फतेहगढ़	३
४	उद्देश्य-उन्मुखता—	श्री रामचन्द्र जो, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	६
५	तब ? और अब ??	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	८
६	"धूप के प्रयोग"	ले० काशीराम अग्रवाल	१३
७	गजल	श्री सुरेन्द्रप्रतापसिंह एम० ए०	१५
८	ईश्वर साकार है या निराकार—	ईश्वर सहाय	१७
९	सुख	कुमारी छाया सक्सेना एम० ए०	१९
१०	सहज मार्ग की भूमिका		२२
11	The Ideal and Short comings	(Shri Ram Chandra Ji President S. R. C. M.	33
12	My Master	(Shri Raghavendra Rao B. Sc. B. E. M. I. S. E.)	37
13	The triple bodies	(Dr. K. C. Vardachari M. A. Ph. D.	40
14	Master's thoughts		46
15	Sidhis and Miracles.	(Sri Ishwar Sahai)	47
16	Master's thouhgts		54
17	Religion and happiness	(Shri M. L. Agarwala. M. A. B. T.)	55
18	Master's thoughts		57
19	Experiences of an Abhyasi		58

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो!!!)

वर्ष ५] शाकाब्द १८८३, सं० २०१८ विक्रमी [अङ्क ३

Year 5] Year 1961 [No. 3

* प्रार्थना *

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादक की बात :—

अपनी पत्रिका के सहृदय ग्राहकों और पाठकों को यह सूचित करते हुये हमें हर्ष हो रहा है कि पिछले कुछ अंकों के प्रकाशन में जो देर हो जाती थी, वह अब दूर हो गई है। समर्थ सद्गुरु के आशीष और सहृदय पाठकों के स्नेह का सम्बल ले कर हमारी पत्रिका प्रगति-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती रहे, यही उस अनन्त परमात्म शक्ति से हमारी प्रार्थना है।

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी श्री कृष्ण जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर श्रद्धेय 'बाबू जी' ने आखिल सृष्टि को आध्यात्मिक प्राणाहुति से आप्लावित किया।

हमारे मिशन में दो ही उत्सव विशेष महत्वपूर्ण हैं, एक तो सहज मार्ग के समर्थ आदि गुरु श्रद्धेय महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फ़तेहगढ़ की जन्म तिथि बसन्त पञ्चमी, और दूसरा श्री कृष्ण जन्माष्टमी। बसन्तोत्सव हमारा वार्षिकोत्सव भी है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी के दिन निराहार बृत रखने का नियम है। इस अवसर पर जो भाई बहिन शाहजहांपुर पहुँच कर श्रद्धेय सद्गुरु के समीप रह सके वह विशेषत: बधाई के पात्र हैं।

पत्रिका को विषय वस्तु और आर्थिक स्वावलम्ब की दृष्टि से सम्पन्न बनाने के लिए सभी सहृदय पाठकों की सहायता अपेक्षित और प्रार्थित है। इस के ग्राहकों की सख्या बढ़ाने के लिए सभी से हमारी विनम्र प्रार्थना है।

—सम्पादक

ब्रह्म ज्ञान— *

[समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फ़तेहगढ़]

अन्धा देखे अद्भुत लीला, देखा पार न पावे।
गूंगा बोले अद्भुत बानी, बोला गूंगा बन जावे॥

मन नदीदम हैच व मन दीदम हमा।
हैच नशुनीदम व बशुनीदम हमा॥ १

प्रकृति का नियम ऐसा ही है। यह रचना तीन गुणो वाली है— सत, रज और तम।

(१) 'तम' में भाव, प्रकट पना, उत्थान (व्यक्त होना) और बूद ('है'-पना) २ है।

(२) 'सत' में सिमटाव, अप्रकटपना, अदम (क्षीणता), और महवियत (डुबाव)३ है। किन्तु अदम और अप्रकटपने को भूल कर भी नेस्ती (अनस्तित्व) ४ न समझना चाहिए, नहीं तो धोखा हो जायेगा। वह हस्ती (अस्तित्व)५ की केवल सिमटाव की दशा है। सिमटाव या अदम (क्षीणता) नेस्ती (अनस्तित्व) नहीं है।

(३) इस उत्थान-सिमटाव, प्रकट-अप्रकट पना,

भाव-अभाव, बूद नाबूद आदि के दृश्यों का देखने वाला नाज़िर (साक्षी) ६ 'रज' की सम्मिलित अवस्था है, जो सत और तम की ग्रन्थि अथबा जड़ और चेतन की गिरह है।

तम मादा (पदार्थ) है, सत् रूह (आत्मा) है, और रज दिल (हृदय) है। यह कैफ़ियत (स्थिति) ब्रह्माण्ड अर्थात् आलमे-कबीर में भी है। और पिण्ड अर्थात् आलमे सग़ीर में भी है।

---

* पिछले अङ्कों में प्रकाशित 'अध्यात्म' शीर्षक लेख से आगे का लेख।

१- मैं ने कुछ भी नहीं देखा, और मैं ने सभी कुछ देखा।
मैं ने कुछ भी नहीं सुना, और मैं ने सभी कुछ सुना॥

२- *Is-ness* ३- *Absorption* ४- *Non-existence* ५- *Existrnce*
६- *Witness* ७- *Size* ८- *Expanse*

दोनों जगह एक जैसा नक़शा है। जिस प्रकार कि हम अपने शरीर में जागने के समय उठते, और गहरी नींद में सिमटते, और बीच की हालत में स्वप्न देखते हैं, वैसे ही उसी प्रकार का एक वजूदे-अज़ीम (विराट् अस्तित्व) भी है, जो बिल्कुल यही व्यवहार करता है, और करता रहता है। इस विराट् अस्तित्व को ऋषि ब्रह्म कहते हैं और सूफ़ी खुदाये-अज़ीम कहते हैं। केवल जिस्मानियत, क़ामत (डील डौल) ७ और जरूक़ामत (विस्तार) ८ का अन्तर है। उसके लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए: जीव तो छोटी सृष्टि कहलाती है। वह विराट् अस्तित्व भी दिल है, जड़ और चेतन की ग्रन्थि है: लोग साफ़ साफ़ कहने से डरते हैं।

वह विराट् अस्तित्व (ब्रह्म) (१) जड़ और चेतन की ग्रन्थि है,. (२) सत्-तम की रजोगुणी सम्मिलित अवस्था है,. (३) हमारी और तुम्हारी तरह जागता, सोता और लय अर्थात् महव् होता है,. (४) हमारी तरह व्यवहार भी करता है,. (५) हाँ, यह अवश्य है कि वह बड़ा है, हम छोटे हैं। वह असीम, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है; और हम सीमित, अल्पज्ञ, अल्पव्यापक और अल्पान्तर्यामी हैं। यही अन्तर है। हमारा नाम जीव है, उसका नाम ब्रह्म है। ऋषि इसको समझते थे, इसी लिए उसका नाम ब्रह्म रक्खा। इस के अर्थ पर ध्यान दो: 'बृहत्' का अर्थ 'बड़ा'; और 'मन' का अर्थ 'दिल'; 'बड़ा दिल' वाला ही ब्रह्म है। ज़रतश्त नबी के पैरोकार (*Followers*) सूफ़ी उस को इस नाम से नहीं जानते थे। अधिक अच्छे शब्द के अभाव में उस को खुदा-ए ईज़द कहते थे। लेकिन इशारे समझने की अक़्ल उन में भी थी। सोचने वाला जब हो गा, मन ही हो गा। लेकिन 'बृह' के अर्थ बड़े और बड़े होने वाले के भी हैं। समय समय की बात है; अतः समझो कि ब्रह्माण्डी मन 'ब्रह्म' है, और पिण्डी मन 'जीव' है। वह आसमानी दिल है, और यह ज़मीनी दिल है; वह एक है, यह अनेक हैं; वह सब का योग है, यह अलग अलग टुकड़ा टुकड़ा हुआ है। जीव मूढ़ है, जीव अज्ञानी है,
जीव ज्ञानी भी होता है, जीव चंचल भी रहता है। ब्रह्म मूढ़ है, ब्रह्म अज्ञानी है, ब्रह्म ज्ञानी है, और चंचल है। यह गुण यदि ब्रह्म में न होते, तो जीव में भी न होते।

ब्रह्म भी साकार अर्थात् शरीरधारी है। जब ब्रह्म को ब्रह्माण्डी मन कह दिया गया तो मन या दिल तो स्वयं शरीर हो गया या नहीं! शारीरिकता के गुण से वह रिक्त और वञ्चित कैसे रह सकता है? यह माद्दियत की जिस्म (इन्द्रिय गम्य शरीर) तुम्हारा स्थूल शरीर है; यह ब्रह्माण्ड माद्दा का तूदा (अखिल सृष्टि) ब्रह्म का स्थूल शरीर है, और पदार्थ (माद्दा) की दृष्टि से ऐसा ही है। यह दिल या मन (पिण्डाण्ड) तुम्हारा सूक्ष्म शरीर है; इस अखिल सृष्टि के सामूहिक विचारों के ढेर की ग्रन्थि (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर हैं। यह आत्मा (ठहराव की असली जगह बीजरूपता) तुम्हारा कारण शरीर है; इस अखिल सृष्टि के ठहराव का मूल आधार (ब्रह्म लय अवस्था की बीजरूपता) ब्रह्म का कारण शरीर है। अब दोनों के रूप हो गये, तो उनके नाम भी होंगे।

स्थूल शरीर अर्थात् कसीफ़ जिस्म से सम्बन्धित जीव को शास्त्र 'विश्व' का नाम देते हैं, जिस का अर्थ सूचक अनुवाद 'ज़मीनी' (पार्थिव) है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन या दिल से सम्बन्धित जीव को शास्त्र 'तेजस' का नाम देते हैं, जिस का अर्थ-सूचक अनुवाद चंचल है। कारण शरीर अर्थात् आत्मा (रूह) से सम्बन्धित जीव को शास्त्र 'प्राज्ञ' का नाम देते हैं, जिस का अर्थ सूचक अनुवाद शान्ति या सुकून है; 'प्राज्ञ' का अनुवाद इस संदर्भ में 'ज्ञानी' नहीं है: आत्मा या कारण शरीर में ज्ञान नहीं होता।

यह जीव के नाम थे, जो तीन शरीरों के सम्बन्ध से थे। अब ब्रह्म के नाम सुनो:—

[१] स्थूल शरीर अर्थात् कसीफ़ जिस्म से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्र 'विराट्' कहते हैं. जिस का अर्थ सूचक अनुवाद 'ऊंचा स्वर' (बुलन्द आवाज़) है।

[२] सूक्ष्म शरीर अर्थात् दिल से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्र 'अव्याकृत' या 'अन्तर्यामी' कहते हैं। 'अन्तर्यामी' का अर्थ-सूचक अनुवाद 'आन्तरिक यात्रा' (बातिनी सैर) है; और 'अव्याकृत' का अर्थ-सूचक अनुवाद 'नज़र न आने वाला कर्त्ता' है।

[३] कारण शरीर अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्र 'हिरण्य गर्भ' कहते हैं, जिस का अर्थ सूचक अनुवाद 'सोने के अण्डे के रूप में शान्त या स्थिर रहने वाला' है। यहां भी ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह ब्रह्म के तीन नाम जीव की दृष्टि से तीनों शरीरों के सम्बन्ध से बताये गये हैं। ब्रह्म, ब्रह्माण्डी दिल अर्थात् अखिल सृष्टि के हृदय को कहते हैं; और तुम्हारे दिल की भी यही परिभाषा है।

(क्रमशः)

उद्देश्य-उन्मुखता

[श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन]

खत तो आप का एक मुद्दत से नहीं आया। छुट्टियों में भेंट जरूर हुई परन्तु उस समय कभी मैं अपने आप को देखता था और कभी आप को। और यह तौला नापी यहां तक रही कि मैं आप से कुछ कह भी न सका।

तराजू में जब बाँट रक्खा जाता है तभी उससे किसी वस्तु का भार मालूम हो सकता है। और बाँट भी प्रमाणित या (Stendard) होना चाहिये। अध्यात्मिकता में भी ऐसे ही बांट की जरूरत है। जिस पर ईश्वर नामी छाप लगी हो। तो भाई यही छाप तुम उस वस्तु में क्यों नहीं लगा लेते जिसमें तुम्हारी भी तौल होती चली आये और उस भार का तुम्हें ज्ञान होता जाय। भार से मेरा अभिप्राय प्रेम और अभ्यास से है। और छापदार बाँट से सिखाने वाले का ख्याल जब यह चीजे ठीक हों तभी कबीर का वाक्य सिद्ध होता है।

कद्दू बूड़े सिल उतराय।
ओलती का पानी बड़ेरी जाय॥

पहलवान व्यायाम करता है इस लिये कि उसका शरीर बलवान हो जाय एक मजदूर भी दिन भर कठिन परिश्रम करता है। मगर

उसका शरीर पहलवान जैसा बलवान नहीं बनता। कारण यह है कि पहलवान का शारीरिक बल प्राप्त करने की तरफ रहता है और मजदूर का ध्यान केवल चार पैसे पाने में। इस लिये पहलवान बल प्राप्त करता है और मजदूर केवल चार पैसे। इसी प्रकार से अभ्यास करने में ध्येय दृष्टि में होना चाहिये। और फिर उसके लिये परिश्रम। परिश्रम यदि बेगार समझ कर किया जावे तो उसमें कोई लाभ नहीं। इसमें (will और जजबां लगाव) पैदा होना चाहिये मैं इस विषय में पहले भी लिख चुका हूँ। Deep meditation का अर्थ भी यही है कि पूरी तौर से लगाव पैदा करके एकाग्र चित से ध्यान करते हुये ध्येय की ओर दृष्टि रहे। यह आवश्यक नहीं कि ध्यान करते समय ध्येय की याद बार बार करे बल्कि ध्येय प्राप्ति की लगन दिल में मौजूद रहे अगर यह नहीं है तो भाई यह मजदूरी भी नहीं बल्कि बेगार है।

मकान बनाया और टेढ़ी बेढ़ी ईट लगी तो फायदा ही क्या। हमें तो भाई अपना घर बनाना है। इसकी तरकीब यही है कि यह घर बिगाड़ो और वह बनाओ इस को बिगाड़ने से मेरा अभिप्राय यह है कि इस घर को अपना न समझो बल्कि उस घर को अपना समझो जहां हमेशा रहना है। इस घर को मान लीजिये आप अपना समझले तो भला कब तक समझते रहेगे आखिर एक दिन यह छूटना ही है। इसके बाद फिर कोई दूसरा घर ऐसा ही मिलेगा जिसके बनाने और समारने में लगेगे और यह चक्कर चलता ही रहेगा अब बताए कि उस घर को जो बराबर बदल रहा है आप अपना कैसे कह सकते हैं। वह अपना तो इस लिये भी नहीं हुआ कि हमें उसका किराया अदा करना पड़ता है। अर्थात् उसकी लेस-पोत करना पड़ती है। और उससे सम्बन्धित अन्य बातों में समय और शक्ति लगाना पड़ती हैं। अब जितने भी घर आप ने बनाए वह वास्तव में आपके न हुये तो भाई उन्हे अपना समझना गलती है। तो भाई आप उस घर के बनाने में क्यों नहीं लग जाते जिसमें न कुछ देख भाल करना है। न कोई उसमें अन्य कोई बन्धन है। मेरे असल अभिप्राय को समझने की चेष्टा करिये : इस घर से मेरा मतलब अपने शरीर से है।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

तब ? और अब ??

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

"दूर वृक्ष के नीचे कदाचित कोई स्त्री पड़ी है !" श्रद्धा ने कहा। वह घट लिये हुये उसी ओर बढ़ी। वृक्ष के पास पहुँच कर पल भर ठिठकी, पुनः उसके पार्श्व में जाखड़ी हुई। झुक कर ध्यान से स्त्री का मुख देख कर मानों कुछ स्मरण करने का प्रयास करने लगी। कुछ समझ में न आया। पास बैठ गई। स्त्री अचेत थी। आस पास कोई दिखाई न पड़ता था। सर्व प्रथम जल भरने पनघट पर वही आया करती थी, ऐसा तो उसने कभी न देखा था और उसका यह क्रम नया नहीं वरन् उसे स्वयं स्मरण नहीं कि कबसे इसी क्रम से उसका जीवन चलता आरहा था।

'किन्तु यह स्त्री कौन होसकती है ? वह इसी बिचार में चिन्तित सी मुद्रा में बैठी थी। छोटा सा गाँव और उसमें भी उजड़ी सी बस्ती, कुछ समझ में न आरहा था कि कहां जाये ! क्या करे !! किससे सहायता माँगे !!!

एकाएक वह उठ खड़ी हुई। शीघ्रता से पनघट पर गई, घट भरा और लौट पड़ी। पुनः उसके पास बैठकर स्त्री के मुख पर शीतल जल के छींटे देने लगी और बार २ मुख धोने लगी तथा आँचल से हवा करने लगी। कुछ देर यही उपक्रम करने के पश्चात् स्त्री में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। वह और शीघ्रता से उसके मुख पर हवा करने लगी-फलस्वरूप एक कराह के साथ स्त्री ने नेत्र खोल दिये। इधर उधर दृष्टि दौड़ाने के उपरान्त उसके नेत्र श्रद्धा के प्रसन्न मुख पर जा टिके।

"बेटी पानी ?" उसके शुष्क होठ खुले और आपस में दो बार टकराये। आँचल भीगोकर बेटी उसके मुख में थोड़ा २ जल देने लगी जिससे उसके शुष्क होठ तर होगये और मुख पर चेतनता खेलने लगी। वह उठ कर बैठने का उपक्रम करने लगी किन्तु श्रद्धा ने उसे ऐसा करने से मना कर दिया। "बेटी ? तू घर जा बहुत अबेर होगई। घर में सब लोग चिन्तित होंगे। अब जल के बिना माता तेरी बाट देख रही होगी

और जल के बिना उसके कार्य भी अधूरे पड़े होंगे।"

"माँ ! मेरे लिये चिन्तित होनेवाला तथा मेरी बाट जोहने वाला कदाचित् अब कोई नहीं रह गया।"

अवाक् थी मां और देख रही थी श्रद्धा के उदास-मुख को। "क्या तेरे भाई बहिन भी कोई नहीं ?"

कुछ स्मरण करती हुई बिचारों में लीन सी होगई श्रद्धा। बचपन का धुँधला सा स्मृति-चित्र एक बार नेत्रों के सामने घूम गया। हाँ उसकी बहिन छोटी सी बहिन ही तो थी 'निठा', नहीं निष्ठा'। और भाई-'विश्वास'। और कौन ? स्मरण आया 'प्रेम' था 'प्रेम'। कितना सौम्य और सुन्दर। विश्वास, प्रेम से आयु में छोटा होने पर भी बड़ा ही तो लगता था। चञ्चल भी तो कितना था वह ?

सहसा स्त्री की प्रेममयी वाणी ने उसकी विचार श्रंखला को ज्यों का त्यों रोक दिया।

"बेटी, क्या सोच रही है ? अच्छा रहने दे अपना नाम तो बता देगी बिटिया ?" "माँ ! गांव के सबलोग मुझे श्रद्धा कह कर पुकारते हैं।"

स्त्री कुछ चौंक कर अतीत को याद करती सी बोली, "कैसा छोटा सा प्यारा नाम है। अच्छा तेरे इस छोटे से गांव का क्या नाम है ?"

"संसार पुर। परन्तु वृद्ध लोगों का कहना है कि पहले यह नगर था और इसका नाम भी इस नगर के मालिक के नाम पर था राम नगर। तब इसकी शोभा भी देखते ही बनती थी ! सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य था। परस्पर सब लोगों में इतना प्रेम था कि यही समझ में आता था कि मानों कुल नगरी एक ही कुटुम्ब के लोगों से भरी पूरी थी। नगर का 'मालिक' देवता की भांति पूजा जाता था और वह था भी ऐसा ही। मां मुझे भी एक क्षीण सी झलक स्मरण है उसकी। यद्यपि उसके दर्शन तो कम ही हो पाते थे किन्तु जो भी, जब भी उसे देखता निहाल होजाता। देखता ही रह जाता और फिर वह जो कुछ बोलता उसे लोग मानों हृदय पर अंकित करके फिर जो कुछ लिख पाते लिख भी लेते थे; उसे जो और लोग श्रवण करते अथवा पढ़ते वे विभोर हो होउठते थे।"

माता ध्यानसे श्रद्धा की एकएक बात सुनकर मानों उन शब्दोंमें डूबती सी जारही थी। और न जाने क्यों यह सब सुन सुन कर उसका मुख उद्दीप्त होता जाता था। वह बैठी बराबर श्रद्धा का ही मुख देखे जा रही थी।

"हाँ एक बात और याद आई। मालकिन का नाम था कामना।" अब तो स्त्री के मुख का रंग बदल गया। उसके नेत्रों से झर झर अश्रु गिर रहे थे।

किन्तु श्रद्धा ? वह तो अतीत की स्मृति में इतनी बेसुध सी थी कि उसे इसका कुछ ज्ञान ही न था। पुनः बोलने लगी। "उसके दो लड़के तथा नन्हीं सी सुकोमल दूध के फेन के सदृश थी एक बालिका नाम था उसका 'निष्ठा'; और 'विश्वास' तथा 'प्रेम' थे उसके दादा। प्रेम तो बहिन की अनुहार था किन्तु विश्वास ज़रा सा चञ्चल था। परन्तु भाई बहिनों में परस्पर अपार स्नेह था और माता, पिता के तो एक संकेत पर न्यौछावर थे। मुझे तो दीदी दीदी कह कर पीछे ही पीछे फिरते।" "और कुछ ?" माँ ने कहा।

"हाँ, उन भाई बहिनों के साथ मेरा भी नगर में बड़ा मान था। और तो कुछ स्मरण नहीं।"

परन्तु यह क्या ? वह तो माता के अंक में थी और दोनों सिसकियां भर रहीं थीं। पुनः सम्हल कर माता बोली, 'आगे मैं बताऊंगी, बेटी।"

"तेरे भी पिता का नाम 'ध्या चन्द्र' तथा माता का नाम 'स्मृति' था। सती, साध्वी थी तेरी मां। तू इकलौती ही संतान थी और बहुत दुलारी। माता पिता के नेत्रों की ज्योति। और मैं ही हूँ बेटी वह 'कामना'; तथा 'मालिक' थे 'निष्ठा'-मेरी सुकुमारी लाडली के पिता। और वे 'विश्वास' तथा 'प्रेम' मेरे ही लाल हैं। बेटी तू भी मेरी ही लाड़ली की भाँति मेरे ही यहां खोई रहती। कोई भी यह न कह सकता था कि 'श्रद्धा' के माता, पिता और हैं।

फिर ?

कैसे एक दिन घोर अंधड़ तथा वर्षा आई। प्रलयकंर हाहाकार मच उठा। सब कुछ बह गया। वह ? पता नहीं न जाने कैसे,

सम्भवतः वर्षा में ही बहते २ उसका गृह एक रमणीक बस्ती (ब्रह्मलोक) में जालगा। किसी को चेतना न थी, बेसुध से थे। न जाने कैसे, कब आंख खुलने पर अपने को उस रमणीक नवीन किन्तु परिचित नगरी में पाया। नगरी का राजा 'निष्ठा' के पिता को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और सब लोग आनन्दपूर्वक रहने लगे। कुछ काल व्यतीत होने पर प्राचीन गृह की खोज लेनी चाही तो पाया वह ध्वंस होचुका था और नवीन दृश्य उपस्थित था। सब स्वार्थी परस्पर ईर्षा, द्वेष से परिपूर्ण तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अभिमान से ग्रसित लोगों का साम्राज्य था। सोचा कि चलें अपनी नगरी का पुनरूत्थान करें। किन्तु कौन सुनता ? सब अपने में ही व्यस्त से थे इसलिए फिर देश लौट जाना पड़ा।

अब :—

श्रद्धा को भी स्मरण आरहा था कि कैसे एक दिन घोर वर्षा में भयानक तूफ़ान में सब दूर दूर बह गये और अलग २ होगये : उसी में श्रद्धा के माता, पिता का भी पता न चला।

और तबसे :—

बेचारी श्रद्धा दीन, दुःखियों की सेवा करती, तथा सबके सुख दुःख में भाग लेती अपने फूसके झोपड़े तथा एक कोठरी में ही निर्वाह कर रही थी। नहीं तो उसे स्मरण था कि उसका सम्बन्ध तो बहुत ही श्रेष्ठ घराने से था। कभी २ स्मरण करके वह चिन्तित सी होउठती।

और अब :—

"यहां क्यों और कैसे आई माँ ?" श्रद्धा ने जिज्ञासा से पूछ ही तो लिया।

माता कहने लगी बिटिया मुझे तेरी तथा तेरे माता, पिता की भी चिन्ता थी। मैंने सुना कि अब यहाँ का राजा बड़ा ही सौम्य, सद्गुणी है। मेरे अब के नवीन नगर में भी उसका बड़ा नाम तथा मान है। उसी के दर्शनों के लिए निष्ठा के पिता से अनुमति लेकर यहां आई हूँ। और भी बहुत कुछ है श्रद्धा। सुना है उसने तेरे माता, पिता को भी

खोज कर नगरी में ला बसाया है । उनसे मिले भी बहुत समय हो गया इसीलिये चली आई ।"

श्रद्धा चौकी, "क्या सच मां ?"

"हॉ बेटी; इस नवीन सम्राट ने सबका पुनरूत्थान किया है । देखती नहीं नगर का रंग कितना पलट चुका है और पलटता जारहा है । देखना यह नगरी तबसे भी सुघर नवेली की नाई सज जावेगी ।"

"तो क्या निष्ठा, विश्वास तथा प्रेम भी साथ आये हैं ?"

'हाँ बेटी; वे तो सहज-मार्ग द्वारा उधर से ही चले गये हैं किन्तु मैंने तुझे भी साथ लेकर जाना चाहा था इसीलिये यहां आई थी । अब साथ ही चलें और रमणीक, सुहावने संसार पुर का अवलोकन करते हुये सम्राट के निकट चलें । वहीं मिलेंगे तेरे माता, पिता, निष्ठा, विश्वास तथा प्रेम भइया । सूने देश की बहार देखें ,"

श्रद्धा घट छोड़कर उठ खड़ी हुई और प्रायः पूर्ण स्वस्थ हुई माता 'कामना' के साथ होली चलते २ पूछा;

"माँ क्या निष्ठा के पिता नही आये ?"

"नहीं बेटी, वे नहीं आये । उन्होंने कहा, कि मैं तो वहॉ हूँ ही । भला मैं उसे छोड़कर जा ही कहां सकता हूँ । किन्तु अब मेरी इतनी आवश्यकता नही । नगरी के पूजन, ध्यान को अब वही राजराजेश्वर, योगेश्वर उपस्थित हैं । श्रद्धा में न जाने कितनी शक्ति आगई थी । उसे तो अपना गॉव संसारा भी बिसर चुका था । स्मृति में था तो केवल एक वही योगेश्वर । मां तथा बेटी के नेत्रों के सामने एक एक कर वही चित्र घूम जाते थे । तब ?

और अब ? और एक ही दृश्य अब दृष्टिगत था । सारा नगर, समस्त दिशाओं से एक ही ध्वनि प्रतिध्वनित हो होरही थी ।

तब ?

और

अब ?

"धूप के प्रयोग"

(ले० काशीराम अग्रवाल)

हमारे शरीर का निर्माण पांच तत्वों से हुआ है, और इन पाँचों तत्वों में से किसी तत्व की शरीर में कमी या अधिकता हो जाने से ही जीवन खतरे में पड़ जाता है और स्वस्थ्य बने रहना कठीन हो-जाता है । इन पांचों तत्वों की प्राप्ती के लिए हमें धन खर्च नहीं करना पड़ता । प्रकृति ने हमें पॉचों तत्व बहुत अधिक मात्रा में मुफ्त ही दिये हैं !

जल, आकाश (वायु), पृथ्वी (मिट्टी) तत्व के प्रयोग पिछले अंकों में लिखे जा चुके हैं । धूप (अग्नि) तत्व के प्रयोग आप पढ़ रहे हैं । इस लेख में आप पढ़ेगें डा० बैबिट की रंगीन रश्मि चिकित्सा, की विधि तथा धूप स्नान की विधि । इन विधियों द्वारा असाध्य रोगों को भी दूर किया जा सकता है ।

धूपः-हमें सूर्य से प्राप्त होती है । सूर्य की किरणों में अनेकों शक्तियाँ मोजूद हैं । सूर्य पूरे जगत की आत्मा है । सूर्य के बिना कोई भी प्राणी, वृक्ष, पशु, पक्षि आदि जीवित नहीं रह सकते । धूप से जीवन शक्ति प्राप्त होती है । धूप स्नान से शरीर में पसीना आकर, शरीर का विकार बाहर निकालता हैं धूप से रोगों के किटाणु समाप्त हो जाते हैं । इस के अतिरिक्त धूप में विटामिन 'डी, भी मोजूद है, जिस की कमी से बच्चों को सूखा रोग हो जाता है ।

धूप स्नानः-धूप में बिलकुल नंगे होकर लेटना चाहिये, धूप पूरे शरीर पर लगती रहे । आध घन्टे से एक घन्टे के अन्दर पसीना निकल आयेगा, सुविधा हो तो धूप स्नान लेते समय शरीर को नीम या केले के पत्तों से ढक लेना चाहिये । और सर पर ठंडे पानी से भीगी तोलिया अवश्य ही रख लेना चाहिये । धूप स्नान के पश्चात पसीना अगर आ जाये तो उसे कपड़े से पोछ कर ठण्डे पानी से तुरन्त स्नान कर लेना चाहिये, या हीप बाथ (*Hip Bath*) ले लेना चाहिये ।

धूप स्नान, हृदय, मस्तिष्क, क्षय के रोगियों को नहीं लेना चाहिये ।

समयः—जाड़ो में १२ से १ बजे तक और गर्मियो में ८ से १० बजे तक धूप स्नान के लिए अच्छा रहता है । धूप स्नान से जुकाम, स्त्रियों के श्वेतप्रदर रोग, मासिक धर्म का विलम्ब से आना, घाव, फोड़े, गाठें जो पकती न हों, मलेरिया बुखार, चर्म रोगों में, तथा स्वास्थ्य की हालत में भी लेना लाभदायक है ।

रंगीन रश्मि चिकित्साः—धूप स्नान के अतिरिक्त यह दूसरी विधि डा० बैबिट की है। इस में भिन्न भिन्न प्रकार के रंगीन शीशे होते हैं । जिस रंग की शरीर में आवश्यकता समझी जाती है, उसी रंग के शीशे द्वारा शरीर पर रंगीन धूप देते हैं । और बहुत से चिकित्सक भिन्न भिन्न रंगों की बोतलों में पानी अथवा तेल धूप में रख कर त्यार कर लेते है । रंगीन बोतलों का पानी मात्रा अनुसार देने एवं तेल रोग स्थान पर मालिस करने पर रंगीन धूप देने जैसा ही काम करता है । बर्षात में सूर्य न निकलने की दशा में यह त्यार किया हुआ पानी अथवा तेल प्रयोग में लाया जा सकता है । तेल की बोतल धूप में ४० से ६० दिन तक दिन भर रखने से त्यार होती है । पानी केवल ४ से ६ घन्टे तक रखने से त्यार हो जाता है । मात्रा का ध्यान रखना जरूरी है, आधा औंस से एक औंस तक पिलाया जा सकता है ।

लालरंग—में गर्मी होती है । स्त्रियों के श्वेत प्रदर रोग पर, गाठों पर जो पकती न हों, चोट, दर्द, गठिया, मोच, मासिकधर्म अधिक समय पर होने की दशामैं लालरंग का प्रयोग करना चाहिये ।

पीलारंग—वात सम्बन्धी रोगों में, बदहजमी, वायु विकार, लीवर, तिल्ली के रोगों के अलावा दिल के रोगों में तथा पुरानी कब्ज में पीलारंग रामबाण है ।

हरारंग—ठंडा और शान्त होता है । आंखों की रोशनी बढ़ाने, घाव, कैन्सर, बहने वाला एक्जीमा, बहते हुये कान में मिर्गी पेचीस,

सन्ग्रहणी आदि रोगों में लाभ करता है । देखा होगा आँखों का अपरेशन होने पर या आँखें खराब होने पर डा० हरे रंग का कपड़ा आंखों पर बांध देते हैं ।

नीलारंग—खुजली होने वाले चर्म रोगों में यह रंग जादू जैसा काम करता है। मासिक धर्म अधिक होने को रोकता है, पुराने श्वांस खाँसी में लाभ करता है ।

आसमानीरंग—कोष वृद्धि में श्वेतप्रदर, पुरानी तपेदिक आदि में लाभदायक है ।

नारंगीरंग—नशो को शक्ति देता है, हृदय की धड़कन में आतशक के घावो में, वात रोग (साइटीका रोग) में लाभदायक है ।

—ॐ—

॥ ग़ज़ल ॥

श्री सुरेन्द्र प्रताप सिंह, एम० ए०

दुनियां का परदा हो रहा है सब हमी से क्यों ।
ये छुप रहे हैं चाँद सितारे अभी से क्यों ॥

नजरों ने मेरी देख लिया कौन सा हुँसीं ।
शरमा रहे हैं अब्रो फलक और यह ज़मीं ॥
ता उम्र छेड़ता रहा दस्ते जुनूँ मगर ।
उठा नहीं नक़ाब रूखेयार से अभी ॥

दुनिया का परदा हो रहा है सब हमी से क्यों ।
ये छुप रहे हैं चाँद सितारे अभी से क्यों ॥

सरमस्ती के आलम में ही मञ्जिल के इर्द गिर्द ।
पहुँचा न मेरा कारवाने जीस्त हो कहीं ॥
छुपा यहीं कहीं है तेरा संगेदर ज़रूर ।
बढ़ती न वरनः यूं मेरी वेताबिये जबीं ॥

दुनिया का परदा हो रहा है सब हमी से क्यों ।
ये छुप रहे हैं चांद सितारे अभी से क्यों ॥

ईश्वर साकार है या निराकार

(ईश्वर सहाय)

यह एक ऐसा प्रश्न है जो बहुत से लोगों को भ्रम में डाले हुये है। वे इसी में जीवन भर उलझे रहते हैं और हर एक से इसका उत्तर पूछते रहते हैं परन्तु फिर भी उनका भ्रम दूर नहीं होता। इसका उचित हल उनको कभी भी नहीं मिल पाता और इसी में उनका जीवन व्यतीत हो जाता है।

त्रिचनापली में हमारे प्रधानाचार्य श्री रामचन्द्र जी महाराज से भी एक सज्जनने यही प्रश्न किया और बड़ी निराशा के साथ यह कहा कि मैं अब तक यही तै नहीं कर पाया कि ईश्वर साकार है या निराकार। इस कारण उसकी ओर झुक भी न पाया। उनकी आयु लगभग ६५वर्ष की थी और यह कुल समय अबतक इसी उलझन में व्यतीत हुआ परन्तु अन्त अब भी न मिला। प्रधानाचार्य जी ने उत्तर में यह कहा कि "जब आप ६५ वर्ष तक यह तै नहीं कर पाये तो अब इसके तै करने को और कौन अवसर आयेगा ? फिर उसकी प्राप्ति का समय कब मिलेगा ? उचित तो यही है कि इस झमेले को छोड़िये और यह मान कर कि वह जैसा भी हो वैसा ही सही, उसकी उपासना में लग जाइये।

वास्तव में बात यही है। इस छोटे से उत्तर में समस्या का पूरा हल निहित है। सच बात तो यह है कि लोगों ने मस्तिष्क की उछल-कूद के लिए इस प्रकार की अनेक बातें पकड़ लीं और वे जीवन भर इसी में फंसे रहे। वास्तविकता की ओर एक पग भी न बढ़ने पाये। सच पूछो तो यह साकार और निराकार का झगड़ा हमने व्यर्थ ही पैदा कर लिया। यदि कोई यह मान ले कि वह साकार है तो क्या वह साकार ही बन जायेगा या कोई निराकार मान ले तो वह निराकार हो जायेगा। वास्तव में वह तो जैसा है वैसा ही रहेगा। हमारे कह देने या मान लेने से वैसा ही नहीं बन जावेगा। शायद यह मान लेने में किसी को संकोच न हो कि ईश्वर ही असल वास्तविकता है। अब यदि यह प्रश्न उठाया जाये कि वास्तविकता साकार है या निराकार तो क्या उत्तर हो सकेगा ? सच बात

तो यही है कि वास्तविकता जैसी है वैसी ही रहेगी और वह साकार तथा निराकार की परिभाषाओं से परे है, यही उत्तर इस प्रश्न का कि 'ईश्वर साकार है या निराकार' होगा।

हमारे मन में यह समस्या उस समय उत्पन्न हुई जब हम वास्तविकता से दूर हटकर कृत्रिम रूप से उसका अनुमान करने का प्रयत्न करने लगे। तब हमारे लिये यह आवश्यक हो गया कि उस का अनुमान करने के लिये उसको किसी प्रकार से अप्राकृतिक आवरण में सीमाबद्ध कर दें। परन्तु वास्तव में तो वह हर प्रकार के बन्धनों से परे है वह तो अनादि और अनन्त (Infinite) है। जब यह बात है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि ईश्वर साकार है या निराकार। संत कबीरदास जी ने कहा है कि :—

जग में चार राम हैं, तीन राम व्यवहार।
चौथा राम निज सार है, ताको करो बिचार॥

एक राम दशरथ घर डोले, एक राम घट-घट में बोले।
एक राम का सकल पसारा, एक राम सब ही से न्यारा॥
साकार राम दशरथ घर डोले, निराकार घट-घट में बोले।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सब ही से न्यारा॥

उपर्युक्त पद से स्पष्ट है कि यह सब ईश्वर के भिन्न भिन्न भाव हैं। वास्तव में वह है एक ही और जैसा भी वह है उसको अपने विचार में लेने के लिये इस प्रकार से सुविधा करदी गई है। वास्तव में राम, ईश्वर, या चाहें जो भी कहलें उस असल वास्तविकता का ही रूप है। हम अपनी सुविधा के लिये अपनी सामर्थ्य के अनुसार कोई भी भाव लेकर ईश्वर उपासना प्रारम्भ करे परन्तु वह हमारे लिए हुये भाव के अनुसार वैसा ही नहीं बन जावेगा। यह भिन्न प्रकार के भाव एक सीढ़ी के डन्डों के समान हैं जो हम को वहाँ तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की योग्यता एक समान नहीं होती। कुछ लोग मूढ़ प्रकृति के भी होते हैं, इसलिए यह संभव नहीं कि हर मनुष्य एक ही प्रकार से अति सूक्ष्म भाव लेकर ईश्वरीय मार्ग पर चल सके। इस कारण महात्माओं ने उसके अनेक भाव दिखलाते हुए हर प्रकृति के मनुष्यों के लिये सुविधा कर दी। परन्तु

यह अनिवार्य नहीं कि हर मनुष्य एक ही रीति से नीचे के स्थूल भाव से प्रारम्भ करे। हमारा अंतिम ध्येय तो ईश्वर की उस अत्यंत सूक्ष्म दशा की प्राप्ति है जो हर चीज से परे है। यदि यह सूक्ष्म भाव हम आरम्भ से ही अपने अन्दर पैदा कर सकें तो किसी दूसरे भाव को लेने की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह बहुत कठिन बात है इसलिये हम किसी नीचे के भाव से आरम्भ करके क्रमशः ऊपर चढ़ते हैं। यदि हम प्रारम्भ के स्थूल भावों पर ही जीवन भर जमें रहें और आगे बढ़ने का प्रयत्न न करें तो ध्यये की प्राप्ति असम्भव है और यह साधक की बहुत बड़ी भूल होगी। निश्कर्ष यह रहा कि भिन्न भिन्न भाव हमारी ध्येय प्राप्ति के लिये सीढ़ी के डँडों के समान है जिन पर पैर रखते हुये हमें आगे चले जाना है, किसी एक पर ही जमे रहना नहीं है। इसलिये उचित यही है कि यदि यह नीचे दरजे के स्थूल भाव लेना आवश्यक हो तो केवल आवश्यकता भर उन पर टिकें और फिर आगे पग बढ़ावें। जब यह बात है तो साकार और निराकार का झगड़ा व्यर्थ ही तो हुआ ?

सहज मार्ग में ईश्वर का वही अति सूक्ष्म भाव लेकर चलते हैं जहाँ पर सिवाय इसके कि वह 'जो है सो है' और कुछ नहीं कहा जा सकता। शब्दों द्वारा उसकी व्याख्या करना बिल्कुल असंभव है इसी लिए महात्माओं ने 'नेति नेति' कह कर समाप्त कर दिया। ऐसे ध्येय की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि जो भाव लिया जावे वह अत्यन्त सूक्ष्म हो। स्थूल भाव का प्रभाव मन पर स्थूलता लाता है इसलिए ईश्वर प्राप्ति में बाधक होता है अतः इस बात को ध्यान में रखना सफलता के लिये अति आवश्यक है।

* भजन *

अब कैसे छुटै नाम रट लागी ॥
प्रभु जी, तुम चँदन, हम पानी। जा की अंग अंग बास समानी ॥१॥
प्रभु जी, तुम घन बन, हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा ॥२॥
प्रभु जी, तुम दीपक, हम बाती। जा की जोति बरै दिन राती ॥३॥
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥४॥
प्रभु जी, तुम स्वामी, हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा ॥५॥

—रैदास

* सुख *

(कुमारी छाया सक्सेना एम० ए०)

मानव जीवन में सुख और दुख का चक्र सदैव साथ चलता रहता है। यदि एक ओर सुख है तो दुसरी ओर दुःख का होना अवश्यमभावी है। दुःख से रहित सुख का कोई अस्तित्व नहीं। प्रत्येक सुख हमें आगामी दुख के लिये आगाह करता है, और यही स्थिति दुख के साथ भी है। सुख के पश्चात् दुख और दुख के साथ सुख यही मानव जीवन है। दुख और सुख एक ही रज्जू के दो सिरे हैं जिस प्रकार रस्सी को मध्य से दो भाग कर देने पर भी उसके किसी एक सिरे का अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता, उसी प्रकार मानव जीवन से भी दुख अथवा सुख किसी एक को दूर नहीं किया जा सकता।

सुख और दुख मानव जीवन के लिए आवश्यक है परन्तु प्रत्येक सुख की एक परिधि होती है जिसके अन्तर्गत ही मनुष्य सुख की अनुभूति करता है। एक साहित्यकार साहित्य के सृजन में ही सुख की अनुभूति करता है एक कवि अपनी कविता में, सिद्ध अपनी सिद्धियों के प्राप्त करने में ही सुख का अनुभव करता है। कलाकार को अपनी तूलिका से चित्र निर्माण करने में जो सुख प्राप्त होता है वही सुख एक ज्ञानी को ज्ञान प्राप्त करने में। ईश्वर भक्त अपने प्रभु की याद में जिस सुख का अनुभव करता है उस सुख की कल्पना संभवतः बड़े २ सिद्ध पुरुष भी नहीं कर सकते। परन्तु सुख का क्षेत्र अत्यन्त विशाल होने के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने सुख को दूसरों से श्रेष्ठ समझता है। यह आवश्यक नहीं कि एक का सुख दूसरों को भी सुख प्रदान करने वाला हो और कभी २ तो एक का सुख दूसरों के दुख का कारण भी बन जाता है।

सत्य रूप में सुख का यह अर्थ नहीं है कि हमारी इन्द्रियों की इच्छानुसार यदि कोई भी कार्य पूर्ण हो गया तो हम सुखी हो गये और इसके विपरीत कार्य होने पर हम दुख का अनुभव करने

लगे । सुख और दुख मानव जीवन में आते ही रहते हैं और उसका प्रभाव भी हमारे शरीर पर पड़ना आवश्यक है परन्तु किसी भी बात से हमारा मन यदि प्रभावित नही हो तो यही वास्तव में सच्चा सुख है बच्चे के शरीर पर चोट लग जाने पर भी वह खेल में इतना तल्लीन रहता है कि उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता । इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि उसको कष्ट नहीं हुआ बल्कि उसका मन उस कष्ट से प्रभावित नहीं हुआ । यही अवस्था मानव जीवन के लिये आवश्यक है । सुख और दुख तो मानव जीवन का क्रम है । शरीर पर दुख का प्रभाव अवश्य होगा और सुख का प्रभाव भी यदि अधिक नहीं तो क्षणमात्र के लिए शरीर की बाह्य चेष्टाओं से प्रगट हो ही जायेगा । परन्तु सुख और दुख का शरीर पर प्रभाव होने पर भी मन को उस से प्रभावित नहीं होने देना चाहिए । जब मन हमारा उससे अप्रभावित रहेगा तो हमें सत्य सुख की प्राप्ति होगी । यद्यपि पूर्ण रूप से मन का प्रभावित न होना तो अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु हमारा प्रयत्न यही होना चाहिये कि बाह्य सुख और दुख का मन पर कम से कम प्रभाव पड़े तभी हमारा वास्तविक सुख कहा जा सकेगा । यह भी नहीं होना चाहिये कि यदि हम किसी पर दया दिखलाने लगें तो उसमें इतने लग गये कि अपने को भी भुला बैठे और किसी पर इतने क्रोधित हुए कि उसके प्राणों के ही ग्राहक बन बैठे । सुख के लिए यह दोनों बातें ही हानिकारक हैं । सुख प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक कार्य का हम संतुलन कर सके । सुख और दुख दोनों का ही हमें सतुलन करना होगा तभी वास्तविक सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

सुख के पश्चात् आनन्द की अवस्था आती है । आनन्द सुख की ही मूल अनुभूति है । जब सुख और दुख के ऊपर हमारा पूर्ण संतुलन हो जाता है और उसमें स्थिरता आ जाती है तभी आनन्द की अनुभूति होती है । जब किसी कार्य की सफलता अथवा असफलता पर न सुख की ही अनुभूति होती है । और न दुख की ही तब हमें अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है । वास्तव में सुख का सम्बन्ध मन से होता है और आनन्द का आत्मा से । अतः सुख के अन्तरगत मन और शरीर के सभी सुख आ जाते हैं । जो लोगों को

अपने २ कार्य की सफलता से प्राप्त होता है । परन्तु आनन्द तो तभी प्राप्त हो सकता है जब कि हमारी आत्मा प्रसन्न हो कर सुख का अनुभव करने लगती है । इस प्रकारका आत्मिक आनन्द तो केवल आध्यात्मिकता के क्षेत्रमें पहुँच जाने पर ही प्राप्त हो सकता है । आध्यात्मिकता से प्राप्त आनन्द (गूंगे के गुड़) के समान होता है जिसका अनुभव तो होता है पर वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता । परन्तु यह आनन्द गुरू-कृपा के बिना नहीं प्राप्त हो सकता । गुरू कृपा के लिए श्रद्धा भक्ति दोनों परमावश्यक है यह दोनों अवस्थायें उत्पन्न हो जाने के पश्चात ही गुरू-कृपा की प्राप्ति होती है तब गुरू की कृपा के द्वारा अपने प्रियतम का सानिध्य प्राप्त हो जाता है और इस सानिध्य से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे परमांनद की संज्ञा से विभूषित करते हैं । वास्तव में यही सच्चा सुख है यही परमांनद है । इस अवस्था पर आजाने के पश्चात साधक अपने मनुष्यत्व को न भूल कर एक अलौकिक सत्ता की ओर आरूढ़ होता है और गुरू-कृपा से आत्मानुशासन के द्वारा वह अलौकिक आनन्दको प्राप्त करता है । इस अवस्था में पहुंचने पर साधक के मन पर सुख अथवा दुख किसी का प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि वह सुख और दुख दोनो में ही एक अनुपम आनन्दका अनुभव करता है । वह तो अपने प्रियतम के प्रेम में ही आनन्दित रहता है । साधक को अपने गुरू के ब शिष्ठ गुण या शक्ति को देखकर मनमें एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है जो आनन्द स्थायी रहता है । अर्थात जब २ वह गुरू के गुणों और शक्ति की ओर देखता है तब २ साधक को परम आनन्द प्राप्त होता है । इस आनन्द के पश्चात् ही गुरू के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है । श्रद्धा के द्वारा साधक अपने श्रद्धेय का महत्व स्वीकार कर लेता है और उस के बताये हुये मार्ग पर चल कर एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है । वास्तव में सुख का सत्य रूप यही है ।

—❀—❀—

सहज मार्ग की भूमिका

—❀❀ ॐ ❀❀—

महापुरुषों का जन्म संसार में आकस्मिक नहीं होता। जब संसार को उनकी परमावश्यकता होती है तभी उनका आदिर्भाव होता है। प्रकृति का ऐसा ही विधान है। आधुनिक, घोर भौतिकतावादी जीवन, विश्व को पतन और विनाश की ओर लिए जा रहा है। स्वार्थ परायणता पक्षपात पूर्ण विचार तथा मिथ्याभिमान आधुनिक जीवन के प्रमुख लक्षण हैं। नैतिकता निराशाजनक रूप से डगमगा रही है। अधार्मिकता लगभग हर मनुष्य के मस्तिष्क में अपना सिक्का जमा रही है। नास्तिकता सब ओर फैली हुई हैं। पाप और अज्ञान के बादल मनुष्यों के मानस क्षितिज पर छाये हुए हैं। ऐसी परिस्थितियों में मानवजाति की रक्षा, और सत पथ प्रदर्शनार्थ, समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी, फतेहगढ़ के रूप में, महान दैवी आत्मा संसार में अवतरित हुई इस अपूर्व अध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न महापुरुष ने २ जनवरी सन् १८७३ई० वी० बसंत पञ्चमी के दिन जन्म लिया। उनके जीवन से एक नवीन आध्यात्मिक युग का आरम्भ हुआ है। राजयोग की प्रसिद्ध साधना जो शताब्दियों से उपेक्षित रहने के कारण उस समय बिलकुल विलुप्त सी होगयी थी, उनके सद्प्रयत्नों से प्रकाश में आई। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होने चिर विस्मृति प्राणाहुति पद्धति को जो राजयोग की मूलाधार थी पुनः प्रचलित किया। समर्थ गुरू महात्मा श्री रामचन्द्र जी के साथियों एवं शिष्यों के हार्दिक अनुरोध पर उनके उत्तराधिकारी तथा प्रतिनिधि 'हम नाम' श्री महात्मा रामचन्द्र जी शाहजहाँपुर ने, १९४५ ई० में उपर्युक्त महान आत्मा के नामपर, मिशन की स्थापना की। इस मिशन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य था, अपने सद्गुरू के पवित्र लक्ष्य की पूर्ति, तथा मानव जाति की सुसंगठित रूप में सेवा करना। प्रारम्भ ही से यह मिशन, सीमित साधनों के होते हुए भी, पददलित व्यक्तियों तथा अज्ञान मोह एवं अहंकार के पंक में फँसे हुए मनुष्यों की सर्वोत्तम ढंग से सेवा करता चला आ रहा

उद्देश्य— मिशन सामान्यतया मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का प्रयत्न करता है। किसी भी मत जाति और राष्ट्रीयता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह जमाने की आवश्यकताओं और प्रकृति की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए कार्य करता है। आधुनिक संसार की समस्त गुत्थियों का हल मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति पर ही अवलम्बित है और यह कार्य उचित आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है वस्तुतः अत्यन्त स्थूल भौतिक जीवन के प्रति हमारा अतिशय राग, एवं संसार के मायामय जीवन के प्रति अनुरक्ति ही हमारे जीवन की प्रमुख समस्या है। यदि यह समाप्त हो जाये तो अन्य समस्याओं के सुलझाने में भी बिलम्ब नहीं लगेगा। उसकी समाप्ति तभी हो सकती है। जब हम अध्यात्मिक जीवन के तरीकों को अपनायें। वास्तव में अपने वर्तमान स्थूलतम जीवन से क्रमशः उन्नत एव सूक्ष्मतर जीवन की ओर निरन्तर प्रगति करते रहना ही, अध्यात्मिकता है। सूक्ष्मता की शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय स्थिति को प्राप्त करके, उसमें स्थाई रूप से रमें रहना ही, मिशन का अंतिम ध्येय है।

सहज मार्ग की साधना विधि :—मिशन में जिस साधना प्रणाली का अनुसरण किया जाता है, उसे सहज मार्ग अथवा ईश्वर प्राप्ति का प्राकृतिक मार्ग कहा जाता है। वास्तव में यह साधना मार्ग वही प्राचीन तथा सुप्रसिद्ध राजयोग है, जिसमें समय की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन करके, ऐसा अभिनय रूप दे दिया गया है जो आज के सामान्य सांसारिक जीवन के लिए पूर्ण उपयोगी है। आधुनिक संसार के जीवन को दृष्टि में रखते हुए इसमें कुछ परिवर्तन कर लिये गये हैं। इस सहज मार्ग में साधना का तरीका अत्यन्त सरल है। ईश्वर सीधा और सरल है। अतः उसे प्राप्त करने का मार्ग भी वैसा ही सीधा और सुगम होना चाहिए। साधना करने का सबसे सफल तरीका यही हो सकता है, जिससे कि हममें ईश्वरीय सद्गुणो का अधिक से अधिक मात्रा में समावेश होना, आरम्भ हो जाय। इस

मार्ग की साधना पद्धति को स्वीकार करने से सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी, बड़ी आसानी से भौतिक आवरणों को शीघ्र ही दूर कर सकता है और वह आश्चर्य जनक गति से स्वतंत्रता के मार्ग में चलने लगता है। इस मार्ग में जिस परिपाटी का अनुसरण किया जाता है वह भी बहुत सरल है। कोई कठिन अभ्यास तो बतलाये ही नहीं जाते हैं, केवल समर्थ गुरू की देख रेख में ध्यान कराया जाता है जिसमें कि वे भली भाँति सहायक होते हैं। विधि सम्बन्धी आचार, और दिखावे रखे ही नहीं गये हैं। इसमें विधि निषेध भी बहुत कम है। यह प्रणाली केवल पढ़ने और आनन्द प्राप्त करने की नहीं, अपितु आदान प्रदान की, अथवा साधना द्वारा अनुभव प्राप्त करने की, प्रायौगिक प्रणाली है। वास्तव में इस मार्ग में किन्हीं बातों पर विश्वास करने अथवा न करने की कोई वस्तु नहीं है। इसमें हर चीज बिलकुल सरल एवं स्पष्ट है जिसका कि प्रत्यक्ष एवं प्रायौगिक अनुभव जो भी व्यक्ति चाहे कर सकता है। यह मार्ग आत्म संयम तथा कठोर तप से मुक्त शास्त्रीय अभ्यासों और शम दम तथा निषेध के पक्ष में नहीं है। सहज मार्ग किसी को भी, साधुओं के गेरूवे वस्त्र धारण कर, सन्यास एवं वैराग्य का एकान्त जीवन अपनाने के लिए प्रेरित नहीं करता है। सर्व साधारण मनुष्यों की धारणा कि सांसारिक जीवन आध्यात्मिक साधना में बाधक है अस्वाभाविक एवं निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि सांसारिक जीवन को इस प्रकार परिवर्तित कर लिया जाय कि उसमें सब कहीं आध्यात्मिकता का ही रँग छा जाय। यदि प्रत्येक कार्य के कर्त्तव्य के रूप में अपनाया जाय, अपने क्षुद्र स्वार्थों और वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए नहीं, तो यह कार्य बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

प्राणाहुति :— आज मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, ह्रास के, दर्शन होते हैं। जीवन के सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में

इस ह्रास शीलता के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे हैं और ऐसी दशामें धर्म के द्वारा स्थापित या उपदेशित सत्य एवं पवित्रता के सामान्य स्तरों (स्थापनाओं) को भी निभा पाना असम्भव सा हो गया है। इसका साधारण कारण यही कहा जा सकता है कि मनुष्य के मस्तिष्क का झुकाव, स्थूल भौतिकता की ओर, बहुत अधिक हो गया है। अतः इस समय केवल इतना करना है कि मनुष्य की उन मानसिक वृत्तियों को, जो अपने पथ से विचलित हो गयी है, सन्मार्ग की ओर कर दिया जाये। सभी साधनाओं एवं अभ्यासोंका यही एक मात्र उद्देश्य है। किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्दिष्ट ये साधनायें बुद्धि रहित या याँत्रिक तथा वस्तुओं के स्थूल एवं बाह्यरूप से ही सम्बन्धित रह गयी है। इसी लिए वे अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मन को नियन्त्रण में लाने के लिए कठोर निरोध (शमन) और अस्वाभाविक दमन (नियन्त्रण) कदाचित ही सफल सिद्ध होता है क्यों कि इससे भयंकर प्रति क्रियायें उत्पन्न होती हैं जिन पर क़ाबू पाना असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि धर्म वेत्ताओं की धार्मिक शिक्षाओं एवं उपदेशों के होते हुए भी, जनसाधारण अज्ञान के पँक में, बिना किसी मुक्ति की आशा के फँसते जारहे हैं। सर्व साधारण के मन को, समुचित ढग से ढालने के द्वारा ही, परिवर्तन लाया जा सकता है। इस कार्य के लिए प्राचीन तम 'राजयोग' का आधार प्राणाहुति की यौगिक प्रणाली ही, वास्तव में प्रभावशाली साधन है। यह वह यौगिक विज्ञान है जिसमें अभ्यासी के मन को समुचित तथा सहज ढँग से ढालने के लिए तथा उसकी सारी उलझनों एवं बाधाओं को दूर करने के लिए, 'गुरू' अपनी आत्मिक-शक्ति द्वारा प्रसुप्त आंतरिक ज्ञान शक्तियों के जाग्रत कर देता है। भारत वर्ष के प्राचीन महात्माओं ने इस अद्भुत शक्ति का जन साधारण की आत्मिक उन्नति के लिए प्रयोग किया है। हमारे प्राचीन

इतिहास में इसके अगणित दृष्टान्त पाये जाते हैं। किन्तु वर्तमान पतन के कारण, इस श्रेष्ठ विज्ञान को पूर्ण रूपेण भूला दिया गया है और आज केवल थोड़े व्यक्ति ही इस पर विश्वास करने के लिए तैयार होंगे। वे लोग मानसिक-संक्रमण (*Telepathy*)और मोह-निद्रा (*Hypnotism*) आदि क्षुद्र विद्याओं की ही अधिक जानकारी रखते हैं, जो उनकी भौतिक बुद्धि को अधिक प्रभावित करती है। जिसके परिणाम स्वरूप वे इसे मोहनिद्रा (*Hypnotism*) के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते हैं। उनको कदाचित इन दोनोंमें से किसीका भी वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। इन दोनों के व्यापक अन्तर को स्पष्ट करने के लिए, मैं संक्षेप में यह कह सकता हूं, कि, मोह निद्रा का सम्बन्ध मनुष्य के अन्दर रहने-वाली भौतिक शक्तियों से ही विशेष रूप में रहता है, जब कि यौगिक-प्रणाली का सम्बन्ध प्राणों की सूक्ष्म तम शक्तियों से होता है और स्थूल से बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध के, उसका सीधा लगाव, आत्मा से होता है। मोहनिद्रा तथा यौगिक साधनाओ के द्वारा मन पर पड़ने वाले प्रभाव में भी पर्याप्त अन्तर है। मोहनिद्रा का प्रयोग जिस व्यक्ति पर किया जाता है उसकी इच्छा शक्ति और ज्ञान शक्ति का लोप हीं हो जाता है और वह गुरू के हाथ में कठपुतली के समान कार्य करने लगता है। इसके विपरीत यौगिक अभ्यास द्वारा साधकों की बुद्धि और इच्छाशक्ति आश्चर्यजनक रूप से विकसित हो जाती है। उसकी आत्म शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं, और वह बराबर हल्केपन तथा अपरिमित शान्ति का अनुभव करने लगता है। सहज-मार्ग में इसी यौगिक-प्रणली, प्राणाहुति द्वारा साधक में एकाएक ईश्वरानुभूति की प्रवृत्ति या प्रेरणा उत्पन्न कर दी जाती है। इस मार्ग की यही प्रमुख बिशेषता है कि इसके द्वारा सामान्य व्यक्ति भी उच्चतम आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त कर सकता है, और इस अनुपम प्राप्ति के

लिए, उसे न जटिल प्रक्रियाओं की साधना पड़ता है और न अधिक समय की ही आवश्यकता है। इस साधना पद्धति द्वारा प्राप्त किए गए प्रायोगिक (व्यावहारिक, प्रत्यक्ष) परिणाम उसकी श्रेष्ठता के ज्वलंत उदाहरण है। जो व्यक्ति इनका अनुभव करना चाहें उन सभी जिज्ञासुओं का मैं हार्दिक स्वागत करताहूँ ॥

इस साधना की प्रक्रिया-- प्राणाहुति की दिव्य प्रेरणा, अभ्यासीके मन को प्रभावित करके, उसे चेतना की उन्नत अवस्था में ले जाने में सहायता करती है। जिसके परिणामस्वरूप वह आन्तरिक जागृति का अनुभव करने लगता है। मन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर ईश्वरोन्मुख होनी आरम्भ हो जाती है, और वह अपेक्षा कृत अधिकस्थिरता और शांति का अनुभव करने लग जाता है। इसे सहजमार्ग में दी जाने वाली आध्यात्मिक शिक्षाका प्रथम सोपान समझा जाना चाहिए। इस प्रकार दिव्य प्रेरणा, चेतना के गुह्य आवरणों पर, जिनका कि सत्ता के सूक्ष्मतम रूपोंसे सम्बन्ध है, अपना प्रभाव डालन आरम्भकर देती हैं। साधारणतया आरम्भ में चेतन मन का बिलकुल स्पर्श नहीं किया जाता है, जब तक कि ऐसा करना अनिवार्य न हो। इस शक्तिपात का प्रभाव कारण शरीर पर डाला जाता है, और इससे उस पर ईश्वरीय गुण या चिन्ह (*Godly Impression*) उत्पन्न होने लगते हैं, जो सूक्ष्म बीज के रूप में, भोगके लिए, विकसित होना आरम्भ कर देते हैं। शीघ्र ही भोग का क्रम स्वत: ही आरम्भ हो जाता है। जिस के फल स्वरूप प्रभाव और भी अधिक बढ़ने लग जाता है और कुछ ही समय के बाद वह सूक्ष्म मन (*Astral mind*) पर भी पड़ने लगता है। वहाँ से यह नीचे सचेतन मन तक आ जाता है, और उसके अनुरूप ही वह सचेतन मन भी ढलने लगता है। साधारणतया उस स्तर पर अभ्यासी आंतरिक वृत्तियों में सूक्ष्म परिवर्तन का अनुभव

करना प्रारम्भ कर देता है। यही कारण है कि प्रायः आरम्भ में अभ्यासी दिव्य प्रेरणा के प्रभाव का अनुभव करने में असमर्थ रहता है किन्तु इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ प्रभाव गहरा और स्थाई होता है, क्योंकि शक्ति प्रसार का यह क्रम, केन्द्र से वृत्त की ओर होता है। इस तरह अत्यन्त स्वाभाविक (प्राकृतिक) ढंग से, बिना किसी शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम के मन ढलने लग जाता है निरन्तर ध्यान के द्वारा मानसिक-चेतनावस्था (*Consciousness of the mind*) प्राप्त हो जाती है, और चेतन मन उसमें लीन हो जाता है। इससे उसमें सत् असत् के अंतर का ज्ञान स्वतः उत्पन्न हो जाता है। अँततः भौतिक संसार की परिवर्तनशील वस्तुओं के प्रति हमारा आकर्षण कम होता जाता है और हम मूलतः सत्य के साथ दृढ़ता के साथ बंधते जाते हैं। इस प्रकार वैराग्य की स्थिति आरम्भ हो जाती है। बल पूर्वक लादा हुआ वैराग्य अस्वाभाविक है, तथा वैराग्य के सच्चे अर्थ से रहित है। सहज मार्ग इस प्रकार के हठ पूर्वक ग्रहण किये हुए वैराग्य का समर्थन नहीं करता है। वास्तव में यह तो, साँसारिक वस्तुओं के प्रति अनुचित माया मोह से, अनाशक्ति का भाव उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि साँसारिक वस्तुओं को अपने अधिकार में न रखा जाय अथवा अंततः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अथवा साँसारिक कर्त्तव्यों का परित्याग कर दिया जाय ! जब हम अनुचित आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं तब साँसारिक धन्धों के प्रति हमारे कार्य, कर्त्तव्य का रूप धारण कर लेते हैं। बिना किसी आकर्षण अथवा विकर्षण के कर्त्तव्य का केवल कर्त्तव्य के लिये पालन श्रेष्ठतम ईश्वर भक्ति है। जब कोई व्यक्ति उचित पथ प्रदर्शन में, उपर्युक्त ध्यान करना आरम्भ करता है, तो यह स्थिति स्वतः अन्तःकरण में उद्भूत हो जाती है। यद्यपि यह साधारण उपलब्धि नहीं है, फिर भी इस योगिक पद्धति की यह एक प्रारम्भिक उपलब्धि ही है ? मनुष्य का पूर्ण रूपेण निस्पृह हो जाना ही, इसका निश्चित परिणाम है।

इसके साथ ही साथ जीवन में नये संस्कारों का बनना कम होने लगता है, और धीरे धीरे, बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार संस्कारों के न बनने से, हम जन्म और मृत्यु से छुटकारा पा जाते हैं। अब भी आध्यात्मिक यात्रा जारी रहती है, पर यह एक अत्यन्त गम्भीर विषय है, जिस पर यहां कोई विचार नहीं किया जा रहा है गुरू और गुरू का कार्य आध्यात्मिक जीवन का अत्यन्त महत्व पूर्ण अंग है। सहज मार्ग में तो यह और भी अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि वहां सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गुरू पर ही है। इस मार्ग में अभ्यासी अपनी पूर्ण इच्छा श्रद्धा एवँ विश्वास के साथ, गुरू को आत्म-समर्पण कर देता है। इसलिये सद्गुरू का चुनाव इस सन्दर्भ में महत्व पूर्ण बात है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि हमें अपने लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान हो। सत्य के विषय में, अपनी २ धारणा के अनुसार लोग चरम लक्ष्य के बारे में, अलग २ विचार रखते हैं और अपने २ स्तर के अनुरूप, वे अपने अभिलषित पथ प्रदर्शक को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उस व्यक्ति के लिए, जो अनन्त ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करने का अभिलाषी होकर आध्यत्म पथ का अनुशरण करता है गुरू भी श्रेष्ट तम योग्यता का होना चाहिए, जो दूसरों की उन्नति के लिए, प्राणाहुति द्वारा मानसिक शक्ति का प्रयोग करने में पूर्ण समर्थ हो। वास्तव में सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति उस समय तक मिलना कठिन हैं, जब तक कि सच्चा सद्गुरू यौगिक प्राणाहुति द्वारा उसकी सहायता नहीं करता है। अभ्यासी की आंतरिक शक्तियों के कार्य को सही दिशा में व्यवस्थित करना यह पथ प्रदर्शक की सामर्थ्य पर ही आश्रित है।

संक्षेप में सद्गुरू से ही अभ्यासी में सच्ची दैवी प्रेरणा आती है। सद्गुरू अभ्यासी के अन्दर शिथिल एवं निद्रित सहज ज्ञान को जागृत तथा तीव्र कर देता है, और सही दिशा की ओर मन और चेतना को व्यवस्थित करता है। उसी में यह शक्ति होती है कि वह अभ्यासी के मन से, बाधाओं और उलझनों को दूर करता है और अपनी शक्तियों से पूरी यात्रा में उसे उत्साहित करता रहता है यदि हमें वास्तव में सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करना है तो ऐसा ही गुरू खोजना होगा।

★ गुरू वाणी ★

❀ शान्ति आ जाने पर भी बहुधा शान्ति का अनुभव नहीं होता ?

❀ कारण यह है कि लोग शान्ति का गलत अर्थ लगाते हैं । वे विचारो के दबा देने को शान्ति समझते हैं । यह बिल्कुल गलत है।

❀ वास्तव में शान्ति का मज़ा कभी चक्खाही नही उसे पहचाने कैसे ।

❀ शान्ति के माने यह है । कि हर वस्तु चाहे अच्छी हो चाहे बुरी हम पर से ऐसे गुजर जावे जैसे चिकने घड़े पर से पानी अर्थात् मन पर उसका प्रभाव न पड़े ।

❀ शान्ति प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना गलत उपाय है । शान्ति प्राप्त करने के लिए सब से अच्छा उपाय यह है कि जो मनुष्य शान्ति अबस्था को प्राप्त हो चुका है उससे अपने आपको जोड़ दे ।

❀ परन्तु शान्ति प्राप्त करने के लिए इसका मूल्य देना होगा। मूल्य क्या है ? वही सब कुछ जो आपके पास है । हमारे पास क्या है ? वही जिसको लिए हुए हम जीवन यात्रा पर चल रहे हैं ।

❀ ईश्वर किस से मुहब्बत करता है ?

❀ केवल उससे जो उसको देख तो चुका हो परन्तु रहे दूर ।

❀ हम ईश्वर से कब दूर हुए ?

❀ जब हमने अपना केन्द्र छोड़कर वर्तमान रूप धारण किया । जब हम इतने उच्च स्थानसे आये हैं तो उसकी याद रहना भी आवश्यक है ।

❀ इस लिए हम अपने वर्तमान रूप को समझते हुए हम उसके ध्यान और उपासना में लगे रहें ।

अर्थ यह है कि उच्चतम प्राप्ति की दशामें भी मनुष्यत्व से अलग न हो।

❀ अटूट स्मरण की दशा प्राप्त करने के लिए उपाय यह है कि जैसे भी हो सके अपने अर्ध चेतन मन को उसकी याद में लगा दे ।

❀ इसकी विधि यह है कि अर्ध चेतन मन में कुरेदन पैदा कर दे और अपनी आत्मा को उस कुरेदन की ओर ध्यान में लगादे जितनी गहराई में यह बात की जायेगी उतना ही स्थायी प्रभाव होगा ।

❀ साधारणतयः त्रुटि यह रहती हैं कि लोग गहराई में चले तो जाते हैं परन्तु वह स्थिर नहीं रह पाते ॥

❀ प्रयत्न यह करना चाहिए कि वहाँ पर दृढ़ता से स्थिर हो जावें ।

(गज़ल)

(मुसाहब राय श्रीवास्तव शाहाबादी)

किसी की याद दिल में आ रही है तबीयत खुद ही मचली जा रही है।
नशे की क्या खुमारी छा रही है कि सुध बुध सारी बिसरी जारही है।
तवज्जो के बरसने का वह आलम दरो दीवार से टकरा रही है ।
खमोशीका वह आलम कुछ न पूछो खमोशी पर खमोशी छा रही है ।
नज़ारा देख कर उस बेखुदी का खुदी खुद आप में शरमा रही है ।
मिटेगें सँस्कारों के पतिंगे शमा-दिल में जलाई जा रही है ।
नहीं दुनियाँ में उनका कोई सानी मिशन जिन से चलाई जा रही हैं ।
तेरे फैजो क़रम का चश्मा जारी तवज्जो याँ छुटाई जा रही है ।
मोआज्जिम किबालओ लाला फतेहगढ़ तुम्हारी याद इस दम आ रही है ।
भवँर की ज़द में है किश्ती हमारी फ़कत तेरे सहारे जा रही है ।
न हो मायूस 'अख्तर' अपने दिलमें कि बारी भी तुम्हारी आ रही है।

आलम – समां, शमाँ – दीपक, सानी – समान, फैजो क़रम – अनुग्रह, चश्मा - स्रोत, मोआज्जिम, क़िबला - पूज्यनीय श्रेद्धय, ज़द – थपेड़े, फक़त - केवल, मायूस – निराश,

" मिट्टी में सोना चांदी है "

मिट्टी के खेल खिलौने यह, फिर मिट्टी में ही आयेंगे ।
मिट्टी से सब का जन्म हुआ, फिर मिट्टी में मिल जायेंगे ॥
यह जल के धारे मिट्टी के, फल फूल यह सारे मिट्टी के ।
है अन्न पान सब मिट्टी से, मिट्टी के गुण हम गायेंगे ॥
यह महल दुमहले मिट्टी के, यह सारे धन्धे मिट्टी के ।
मिट्टी में सोना चाँदी है, मिट्टी में सब कुछ पायेंगे ॥
रचना देही की मिट्टी से, फिर मिट्टी से क्या बचता है ।
मिट्टी से अपना जीवन है, मिट्टी को शीश चढ़ायेंगे ॥
मिट्टी में अद्भुत शक्ति है, इस लिए जगत को भक्ति है ।
मिट्टी श्री कृष्ण प्यारी है, हम मिट्टी को अपनायेंगे ॥
उत्थान पतन है मिट्टी से, ऋषियों ने अविष्कार किया ।
रोगों पर मिट्टी औषधि है, हम जनता को बतलायेंगे ॥
अन्दर बाहर के रोगों को, जड़ से मिट्टी खो देती है ।
मल ग्रसित हमारी काया को, निर्मल सुन्दर कर देती है ॥

* स्तवनम् *

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रव से नमो नमः ॥
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति बिना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रव से नमो नमः ॥

[जिस का कीर्तन, स्मरण, दर्शन, बन्दन, श्रवण और अर्हण अविलम्ब समस्त लोक के पाप का शमन करता है, उस पवित्र कीर्ति वाले को बार बार नमस्कार है ॥

तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्रविद् और पुण्य-चरित्र व्यक्ति जिसे (अपनाअर्जन) समर्पित किये बिना कल्याण की प्राप्ति नहीं करते, उस पवित्र कीर्ति वाले को बार बार नमस्कार है ॥

—श्री मद्भागवत: शुकद्वारा स्तवन ।

[The Singing of whose glory, the constant remeмberance of whom, the obeisance to whom, the listening to whose glory and the honowring of whom instantantaneously blow away the sin of mankind—

To that Lo d of anspieious fame, I pay obeisance again & again without dedicating (their achievements) to whom, those who perform penances, those who give alms, those who gather fame, those who control their minds, those who real ze Mantras, and those who preseme character do not Atain the lasting welfare.—

To that Lord of anspicious fame, I pay obeisance again and again.

—Prayer by Shuka in Shrimad Bhagawat.

The Ideal and Shortcomings

[Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.]

As the world is transient, everyone has to depart sooner or later but someone goes without any load and somebody with load. Most of the people depart leaving wealth behind; and because of this alone their memory remains fresh in the minds of their heirs. But the earning of the spiritually perfect man is something else Unpossessed he goes possessed. I mean by unpossessed that the search of the possessed by becoming unpossessed is the search of the One by becoming alone. He has no concern with the comforts, luxuries, success and pleasures of the world. He is liberated from its bondage in his lifetime alone. And by possessed what I mean is that he takes along with him the bread for the way, that is, the real essence of his spiritual earnings. And leaves his spiritual earnings to his spiritual inheritors just like the householder; and each receives the quantity in proportion to his capcity and the remaining is swallowed by the descendent. And this reaches to initiated members only, becaus legally the spiritual offspring alone deserves it. Some part of course reaches those also who had special love with their teacher and who have attained 'LAYA AVSTHA' and this is right too. In spirituality the share goes to the really deserving and that is why I have repeatedly written

exhorting to become deserving of that thing; and for that two things are required. Love and Obedience. And both these things are interdependent.

Of course, it is true that initiation is an essential thing and there is no go without this. This is necessarily helpful in attaining really highest approaches. It is a different thing if anybody creates in himself the conditions of highest approaches. Even then he remains deprived of the Great Gift. The person who does initiation becomes as compelled after the initiation as thc father to his sons. However naughty the son may be still the father claims him as his own son and his parentage remains the same. Yes, in spirituality some such thing is produced in special cases that he can cut o'f any of his spiritual descendents. But this is done in very exceptional case and only the Guru can decide about it The principle of initiation is that initiation can be done only when the faith of the aspirant is matured and when there is going deep enough in love.

Now hear about our gathering. Some gentleman does Pooja for the sake of courtsey and somebody sits for it for the sake of formality. Well, thank God, there is at least this much- Some gentleman has got the habit of sitting for Pooja once in a while and wishes that I myself should form this habit in him. Well, so much for the better. Possibly someone or other may even enter the sphere of blasphemy by

remembering myself instead of God in times of difficulties and hardship. None seems to possess the real interest Even if there are such they are countable on fingers; they have got neither longing nor craving. Once the Master, Lalaji had written to some gentleman, 'I require lions, not sheep". And he had orally told some gentleman, "I have joined even sheep in my Sat-Sang for courtsey's sake". This was his experience. Remembering this no complaint against anybody remains. It looks like my fault alone. But then, everyone has to be looked after. I Thought of methods It is a matter of gratification to me to think of receiving some light or of their receiving in future which is better than at least nothing. Some work or other at least would have been done. Anyway our intention is right You can imagine tbe condition of my heart by the following instance. Yesterday when I was returning from the office I saw that a monkey was lying on the roadside breathing his last due to some injury I was moved very much. I could do nothing I stood there for a minute and transmitted so that its condition may become better in future. I did not like to do more than this.

Again and again the thought comes to me that I had written the last letter very strongly. But I was comepelled to do so I thought that if there was no hardness in the tongue there was the hardness in the pen because it has got steel and wood also and so possibly you may show the flow in Divine love

by becoming hard upon yourselves due to this hardness. Probably this hardness may bring out some good result although it is a fact that unless there is no will of God He does not attract the servant towards Himself and it is impossible to have His vision. Now the question arises that why He should trouble Himself to attract the servant towards Himself. Because if there is any motive in the Lord then I think He too is just like a householder like ourselves. But along with this it is also a fact that when our motive is to join Him then we adopt such methods only and this alone is called ABHYAS (practice). When the intense desire to join Him is created some kind of ripples begin to be produces in Him. Then He feels that some miserable devotee is awaiting Him. But then, brother, who has to create this thing ? Who has got the leisure ? We have fallen in our own mire and are taking pleasure in that alone. Even the pain here is pleasure. It does not mean that we have become saints.

To speak in general, everyone is mad after his own thought. I have called pain as pleasure because people tolerate any kind of misery but we never like to step out of our own, beacuse the moment we step out of the kitchen the kitchen gets contaminated. One step is inside the kitchen and the other outside. Not even think of taking both the steps outside the kitchen so that we may step outside as well as the kitchen may remain quite uncontaminated.

(Translated from Master's letter)

MY MASTER

(Sri Raghavendra Rao,B Sc ,B.E.,M.I.S.E.,)

Has anybody seen my Master ? If so, let him come and compare his notes with me.

All praise be to my Master. But I cannot help praising my self. Does it imply a contradiction ? My Master is my Self.

I had been to Him with a heavy heart. I was relieved of my misery the moment I saw Him. Alas ! I did not know it then. I missed the actual process. But its effects were devastating.

Was it love ? Were they the pangs of separation– the torrent of tears and the heart-breaking Sobs ? How wonderful ! How thrilling !! What a relief !!!

Only God gives salvation. Only God graces with liberation God alone creates and He alone purifies. He is greater than the greatest and smaller than the smallest. He is the Infinite as well as the Infinitesimal.

Is God an impossibillity ? Is he a mere speculation ? Then you have not seen my Master. Come with me and I'll show you.

He had come to me once. I thought it was a dream. What a cursed ignorance it was ! Oh no ! let me not curse. He was merely playing hide and seek. He was there all the while But the dirt and

rubbish in my heart was obstructing His light.

I love myself. Hence I was seeing the reflections of my own dirty desires everywhere. Sometimes He would smile but I was frowning then He had allowed me to take liberties even as He is doing now. He was playing while I was suffering. Little did I know that His play is infinite. Still less could I understand that my suffering was finite.

At last out of His infinite compassion He took pity on this insignificant worm. He lifted me out of this dust of death and disease. His touch made me deathless. His will made me immortal

Are you still miserable ? Has the attack of despondency crippled you for ever ? Have you not heard the great news of the day—nay,the great news of all times ? MY MASTER HAS COME ! The sun is shining The larks are singing. Each particle is madly dancing to the tune of His life-giving and soul-stirring music. Open your eyes,my friend,and behold His auspicious form. Hearken to His Heart. Never such a love song was sung before.

What ? You have seen His form but are unable to understand Him ? Why are you hankering after understanding ? Is it not enough if you just stand under Him ? Has anybody ever understood Him ? Can anybody ever understand Him ? Throw off your vanity. Become humble even as He who carried the load of grass to the stables of thoso who offered Him merely flowers.

Do you want to know what He is ? He is neither a daddy nor a dandy; neither a pundit nor a bandit; neither a god nor a dog. You want to know His age, sex,religion,nationality and occupation ? He is age-lets,sexless,out of religion,out of nationality and even out of occupation ! Still,to satisfy your curiosity,I can give you the figures and names of your conception. But I am afraid you will get lost in your owu conceptions and miss Him See Him as He is and not as you wish Him to be.

There is none like my Master but everyone is His image. My Master is one and only one but He is in everyone as well. My Master is one of the common but He is also the only one in common. You cannot approach Him but He is in you and He takes him whom He chooses.

In fact He has chosen everybody's heart for His abode and I have chosen Him for lordship of my heart. when He is there I am not. He has made my heart a strait too narrow to admit two.

You look before you leap and consider yourself very wise But like a mad fool I plunged in the deep and to my utter amazement I found it to be the Oceon of Immortality. Listen to me. Leave off all misgivings. Jump ahead and drown yourself in my Master. There is no other way to see Him.

———

The triple bodies

[Dr. K.C. Varada chei, M.A., Ph.D.]

It is usual to speak about three bodies (*Sariras*) of man in Vedant. They are called *Karana* (*Causal*), *Suksma* (subtle) and *Sthula* (gross). This classification would recall at once that both the *Suksma* (subtle) and the *Sthula* (gross) are *Karya-Sariras* (effects) of the *Karana-Sarras* (causal body). The Advaita Mayavada Vedanta holds that the causal body is avidya (ignorance), and the *Suksma* and *Sthula* bodies are the *Linga Sarira* (the body that accompanies the soul on its transmigratory cycles) and the *Sthula-Sarira* (the body that is born and grows and dies and is cremated or buried,whose elements thus join their respective elements).

Avidya itself as cause is not merely ignorance,it is ignorance on the part of the individual soul of the fact that it is one with and is Brahman: it may also be stated that it is karma also in the sense that all activities of the individual in a life,whether ritual and obligatory or optional,or ordinary karmas or actions performed with interest in certrin goals,are those which impel the individual to take births for fulfilling their desires and thus effectuate births. Thus avidya is both ignorance and karma both in its causal and effectual or fruit states.

The ignorance however is stated to be independent of the soul and attaches itself to the individual and thus becomes the karana or cause. There are certain schools of thought which consider that karma is *anadi* (biginningless), so too avidya. This concept of anadi or beginningless-ness is itself an intriguing one for it is attempted by this to avoid infinite regress. Of course it is certainly not avoiding it by this word.

There are therefore karma and avidya (whether these be synonymous or not does not much matter). The question is wether they are *Upadana* or material cause or efficient nimitta cause or both. The attempt to make avidya itself the material cause by equating it with prakrti or primordial Nature will have to explain the efficient cause as avidya or as karma. There is a Vedantic attempt to make Brahman both the material and the efficient cause,and this is difficult to prove on the basis of pramanas such as preception or inference or analogy too Dvaita and Vseshika schools recognize that it is natural to have the *Upadana* and *Nimitta* causes as distinct. So too Samkhya Organic relationship between Nature and God can help to explain the unity of material and efficient causes: this is not possible to a theory of pure or absolte Monism.

Thus the Causal (Karana) sarira must be more than mere avidya (karma) and must include the Nature and also God or Ultimate Spirit. Being a sarira it must be something that envelops the soul and limits it and produces the chain of causes and effects,and also

it must be capable of being discarded. But if we hold that the soul itself is not a product of avidya (as in Mayavada), but is a real entity which is entirely dependent on the Ultimate Godhead and is sustained and enjoyed by that Being alone and as such is His body (according to Sri Ramanuja). the soul is not a sarira in the usual sense but in an ontological sense and become the cause of the evolution of itself in conjunction with Nature and karma. Karma must de some occult function (*dharma*) granted to each and every soul primordially which it has to work itself out and perfectly for the sake of the Divine.

This might be the meaning of the word *anadi* (biginningless) in a further sense that every soul is eternally dependent on the Divine for its existence itself and its works are ordained from the very eternity. A secondary meaning of the word causal might be more germane to us in so far as we are concerned with our cycle of births and deaths. Karma which is primordial gets forgotten or diverted to lesser s ibjective ends and thus twisted it loses its original impetus and urge which it got from the Divine Self. Thus there happens self-limitation for personal enjoyment and avidya becomes dominant. Indeed it appears plassible to think that the wonderful power of God which illumined the functions of each and every one of the souls itself turned out to be inexplicable and turned towards ignorance losing illumination and basic creative power. There is truth in the assertion that when the souls are godly Maya or the

Supreme is *jnanam, vayunom*, and liberating whereas when the souls invert this the very maya becomes difficult to understand and cross over (*mama maya duratyaya*, as Sri Krisna says) and forms itself into avidya. The sattva or luminous nature becomes dark (tamas). In this sense Sri Ramachandraji of Fatehgarh calls *sattva* the karana *rajas* as subtle and *tamas* as gross sarira of the soul, from the psychological point.

Man's desires form the causal body according to Buddha. Trishna or desire or craving is the cause of all formations of instruments or karanas for realising them for a soul. The soul itself ultimately appears to be nothing but the grouping or pattern of desires.

These karmas or desires themselves become subtle and gross bodies into two stages. Thus acti. ity produces material itself for forming bodies. This implies a view explicated or explained by the Jainas that activity itself produces matter (*pudgala*) that enters the soul and binds it by sheaths. The linga sarira is the subtle sheath comprising in samkhyan philosophy buddhi-ahamkara. manas and the sense organs and motor organs which are all of the infinitismal size: this linga sarira is supported by the karma (*avidya*) pattern growing from life to life and thus modifying life after life. This subtle or linga sarira along with the karma-body (*karana*-(body) so to speak is the traveller from body to body so as to enjoy or experience bhoga (experiences) sought by it or wrought by its desire. The *sthula* body is of course the last body which is composed of gross ele-

ments which undoubtedly are according to the subtle condition of the *tanmatras* and sensory aud motor organs.

Thus we have the karana sarira which supports the subtle karya sarira which in turn is the karana of the sthula-sarira.

There is an underlying idea however at this point which demands clarification, and that is whether the causal sarira contains in embryo or potentiality all that the effects reveal both in the *linga* (*suksma*) and the gross sthula bodies. It is held that all events and future not merely the past is contained in the karana or occurs in the karana (whjch of course is quite a different thing). Thus it is held that any outer or gross change should have been preceded by the inner subtle and causal changes. It is thus held that thought works firstly in thc causal and then in the subtle effectual and then the gross effectual conditions. One who can perceive the causal condition of any person can determine what he would or could do in his life later. And it is possible to change the causal by cutting out the desires there and thus bring about healthy changes in the subtle and then in the gross. This theory of causal determination of course faces a serious challenge when it is held that the effects are entirely new products and not present in the cause. Be this as it may, it is clear that plans precede execution and thus the idea precedes action, and ideas can be causative forces for effectual executions of the ideas. In this sense the cause pre-visages the effect

and changes in the idea can alter the effects accordidgly. Thus if desires are aunulled or modified effects do not ensue in the effect or the subt e and gross bodies.

There are thus elements in life which permit this modification of the causes of our existences or patterns of bein; and this should embolden one to undertake the precise plice where we have to seize the effect. Indeed the aim of life is to attain that original purity of being and thus arrest the causal condition that has brought about the trail of subtle and gross body-building.

Whether we assume three bodies or only two, it is clear that the causal body is concieved as the ideational from of the effectual. The getting rid of the causal nexus is the aim of all teaching and yoga. A clear concept of the nature of the causal is necessary. Our desires form the cause and seek to project themselves into the effect, and the are the dynamic causes moulding the very pattern of evolution and birth. Thcy are in fact the continuing causes till the last effect or fruit is realised. Our bondage and misery is d e to the fact that our individual desires are not all effective in realisation and get interferences and obstructions. Bondage becomes clear and patent in the effect; even like a disease awaiting its diagnosis one has to discover the nature of the cause. We have found that desire and wish are the germinal facts and counter desires and wishes have to be made in order to break up the causal body Thought moving downwards and

exteriorly has to be turned withinwards and break up the patterns or knots of causality (*karana*); thus handled the knots that have framed themselves into subtle and gross bodies begin to get loosened and tension is lost. One gains the firsr feeling of peace —non-tension. The reverse movements first set up reverse vibrations in the whole body starting with the heart, the grossest formation as the seat of mind citta. Moving upward these vibrations unknot all the subtle and gross bodily knots and finally break up the causal body. The cause being thus extinguished the effects do not have any effect nor do they arise thereafter. This is the withering of the causal body— *nisprapancikarana.*

The ultimate condition of the soul or self is thus beyond these three bodies— *karana*, *Suksma* and *Sthula.*

Be learned and be spoiled; be religious and be closed. Away from them,the real thing,the problem of life is solved.

The path nearest to your self is the path nearest to God.

Every action creates Samaskar. Meditation is also an action,so it too must create a Samskar ?

But it creates a pious Samskar,the Bhoga of which is he very thing one aspires for. (Master)

Siddhis and miracles

(Sri Ishwar Sahai)

The cleaning of the Chakras is an important item in the Yogic pursuit. When these Centres are cleaned and transformed, their characteristic properties are released and the natural action thereof starts in an automatic way. The super-normal powers associated with the Chakras are often wrongly interpretted in numerous odd ways giving rise to scepticim. Each Chakra is characterised with some particular powers which are released when its awakening is affected. But the rousing up of these powers by forced physical means results mostly in the development of Siddhis (miracle-working capacity) which are commonly considered to be a sure test of Yogic attainments. For example flying in the air like a bird, walking over the surface of water as on land or standing in the blazing fire unhurt are some of the achievments, proclaimed to be associated with the awakening of these Chakras. But such vague assertions which at the very surface seem to be fabulous or imaginary like the fairy tales or the stories of birds and beasts, have always remained short of practical evidence and experience. They may however offer temptation to those lovers of extra-ordinary powers who want to display themselves as super-normal beings. There may however be some basic truth underlying these assertions, which may not have been properly understood,

but the way in which they are exposed to common understanding is, beyond doubt, grossly inappropriate and confusing. For instrnce, flying in the air may be supposed to be refering to the reduction of the density of being, which as an advancement towards subtleness is of course the persistent effort of a Yogi. At higher stages the condition is sometimes described as being lighter than air even, for the attainment of which a parallel light-ness of one's own being is essential. Its interpretation as power to fly in the air is wrong and misleading.

Some extra-normal capacity, no dout, does develop by the effect of illumining these vital nerve centres, but that is not a matter of serious concern to a pursuer unless he is internally inclined towards it and applies his will and effort to transform it as power. In that case his mind gets diverted towards miracles alone and the main objective is altogether lost sight of. This is what the so called Siddhas usually profess and display inorder to attract towards them the silly masses who are hit hard by their various worldly problems. They extend their open invitation to all those who wish for having a son or relief from some misery or any of their selfish desires. They may more appropriately be said to have set up their business concerns in this manner, going about from place to place for the purpose of earning money. They make it a regular profession and are amply paid for it. It may not be out of place here to meti on an incident related with my master. Once

a wealthy business man who owned as many as twenty business concerns at different places, hearing about the master's calibre from one of his friends, remarked, "If your master displays to me some striking miracle, I shall give away all my twenty bnsiness centres to him." By and by it reached the Mastfer's ears too, who meekly replied, "Please advise him to search for a sturdy ass who might well bear the burden of his big concern." The man when he heard this reply realised his mistake and repented for his folly. In short such is usually the mentality of the common people,on account of which they often fall an easy prey to the cunning devices of miracle - mongers.

Yet inspite of all our upto-date knowledge and improved understanding it is often not very easy to decide whether a miracle is a reality or a hoax. Everything that we see or believe can be explained by reason but for a miracle it is sometimes very difficult to explain it in that way. Many a miracle can be exposed as a cunning device achieved by the dexterous planning and skilful show-manship. People having a practical knowledge of human psychology assume a show of miraculous powers by predicting things in a vague language which can be interpretted in numerous ways. Ordinary Yogic feats and cases of petty jugglery are sometimes thought of as the same thing.

On the other hand there are sometimes cases when a man can not but be convinced of the genuineness of a miracle. Such miracles are mostly the results of powers

excited by particular exercises of the sympathetic nerves and are brought into action by the force of thought or will. They can not, however, be explained at the ordinary level of understanding. But the question is whether, though they are un-understandable to the observer, they are also un-understandable to the performer. It is just possible what seems to be un-understandable to a spectator may be quite un-understandable to the performer; the spectator being unacqainted with that particular art fails to understand it. For example, a man sits down all night burried deep in the ground without any passage of air, still he comes out alive the next morning. To a layman it may be a miracle but to one who knows something about breath-control it is quite understandable as the result of continued practice of Pranayama. Thus in almost all cases a miracle which at the ordinary level seems to be mystifying to most of the people, may not be so to those who have the knowledge of the particular science associated with it. In this sense a miracle is seldom a miracle to one and all, and perhaps there might be a few who can analyse it on the basis of certain knowledge. not known to every one.

The mystery can further be solved if we look into the motive of the performer. In almost all cases it is either some personal gain or a show of greatness and superiority or perhaps a cunning device to attract people to one's fold of gurudom. In this light it may not be wrong to say that every miracle is

more a hoax than a reality. But this wholesale condemnation may not be quite justifiable when at the time we find real saints of calibre or the great founders of religions associated with some striking event of the kind. These though a miracle to outer view do not come under the class discussed above. Such phenomena come into action only when there is genuine need for it, by the effect of the subtle powers, without any thought or intention on the part of the performer They happen quite automatically without the least implication of thought or will, and often even without the conscious knowledge of the doer. Such miracle, if they can at all be called so, happen through the medium of some great soul of highest calibre in pursuance of the Nature's work for the universal good.

KundaIni

The centre of all such miraculous powers is commonly understood to be Kundalni-Sakti, the vital subtle force in man It is located in the lower part of the body near the level of the navel. It corresponds with the Pelvic plexus of the human-anatomic system and is represented as a coiled serpent It is supposed to possess immense power and its importance in Yoga is thought to be very great, especially in Hathayoga where it is often treated as the real pursuit of a Yogi. The action of Kundalni in rhe physical plane is not known. In its normal state it appears

to be lying dormant without affecting any of the conscious or unconscious nerves of the body. when awakened it becomes active and supposed to effect all the important centres of the anatomic system. The awakening of Kundali is brought into effect either automatically when matured at higher levels of advancement or by the force of physical exercises of Asana, Pranayama etc. as provided for under the old system According to the current yogic view Kundali when awakened stretches forth through the vertebral canal right from one end to the other with its head point at the centre of Sahasra Dal—Kamal and its tail in the Muladhar region. The effect is then supposed to be carried through the spinal column and reflected upon the Chakras through the medium of the nerve fibres. This Is usually known as Chakra bhedan or the piercing of Chakras The Chakras are thus presumed to be awakened automatically with the awakening of the Kundalni. This is believed to result in the acquisition of super-powers known as Siddhis, and it is, in fact, this attainment alone that most of the pursuers of yoga generally aspire for but which in true sense is far off from the real purpose.

The wonderful discovery of the Master about this mysterious force offers a more scientific and natural explanation. He says that Kundalni instead of being like a coiled serpent is more like an open ring, the two end of which are but slightly apart from each other

They face each other and serve as poles for the flow of energy One of them is the positive pole and the other is the negative. From each end one type of energy flows on into the other forming a comeplete circuit within itself. For this reason the action of the Kundalni— Force remains confined within itself, with out affecting any part of the human system. Hence it is dormant. But when awakened its end get a little more apart and turn slightly upwards. The energy flowing out from the ends does not then remain located within the Kundalni but goes up through the medium of the Sushumna Nadi, covering a larger circuit extending from the base upto the centre of Sahasra. It is not that the physical nerve itself actually straightens to stretch forth through the spinal column but that it is only the extension of the circuit of power located in the Kundalni. The supernormal power acquired by the awakening of the Kundalni is often misinterpretted in the numerous ways In cases where premature awakening is effected by physical means, the power acquired is commonly utilised for material purpose only. In this respect the awakening of Kundalni may be taken as an exclusively material pursuit and may amount to degradation of Yoga. As a matter of fact Kundalni is the seat of sensation which come under control by its awakening. The Divine wisdom dawns with it and the Nature becomes an open book to him who gains mastery over it. The super - normal capacity aroused thereby is meant for the Nature's work

which a yogi at higher stages of advancement can not avoid. It is by no means the final object of the pursuit or the real criterian of a yogi or even an essential factor in spiritual elevation. There is no doubt that the Kundalni of a yogi dœs awaken when he attains a certain stage of advancement, but that dœs not mean that by affecting its forced awakening by physical means one necessarily becomes a yogi in the real sense. In most of the cases forged awakening leads to grossest evils. It is for this reason that Kundalni which may in its natural course be an asset to one may otherwise be a means for making one a demon of the worst type Greatest precaution is therefore necessary in this respect ond its premature awakening must not be resorted to in any case.

If meditation is devoid of the idea of Divine, it will develop hypnotic powers and not subtleness.

Sages say, "Know thy self". But I prefer to say, "Forget thyself". God is subtlest. Inorder to go upto Him one must become equally subtle. One can not become God for there can be no two administrators of the world. In Sahaj Marga we do not try for any thing. we only attach ourselves with God and detachment, and every thing else follows automatically.

For constant remembrance we take up Divine quality and rest our thought on it. From quality we reach the substance and then to its ultimate.

If passions are made extinct, intelligence will totally disappear. (Master's thoughts)

Religion and happiness

(Shri M.L. Agarwala, M.A., B.T.)

The word' Religion' is derived from the Latin 'religare' which means obligation. Thus religion is connected with the idea of obligation by which man is bound to an invinsible God.

Religion was born of fear of a power supreme to man and a belief in ghosts and supernatural elements which dominated human mind and society for thousands of years.

In primitive society man believed in charms and magic which as he believed could produce marvellous results by the aid of spirits or of the secret forces of Nature. These superstitions in the early stages of religious consciousness gave birth to the practice of rituals and sacrifices.

Then with richer experience and higher power of reasoning, man in his march onward towards civilization and culture found the ultimate reality and religion was wedded to Ethics, Morality, Duty, Conduct and Character. Death and the state after death also came within the scope of religion.

Hindu religion started in the Vedic Age. During this period the Aryans settled in the Indian soil and gradually spread culture and civilization. Our ancestors worshipped the beauty of the stars, moon, sun, the dawn and the elements and created legends and myths

of the many gods that preside over the manifestations of Nature.

The Hindu mythology was filled with shining gods and goddesses. Later on the ultimate relation of human soul and God was established once for all. Different systems of philosophy were born in our land out of this urge of the soul to find its ultimate reality and salvation.

To-day religion of man must bind together fellowmen with love and dedication of the spirit to the service of suffering humanity. We must also act in winning over the dark forces of life and embrace the whole humanity irrespective of cast, coloure and creed in love sympathy and toleration.

The greatest aim of religion is to give permanent bliss to its followers for which it preaches its followers in various ways But there is not any philosophic system of happiness which can be applied to every condition of life. Similarly there is no general principle for attainment of happiness. Joy and sorrow cannot be separated from the lives of human beings. Fulfilment of an ambition brings temporary joy. Similarly a calamity also causes temporary suffering.

The greatest method to attain happiness is to enjoy the present without caring for past and the future. No man is happy who does not think himself so. Happiness is neither within us only, nor without us. It is the union of ourselves with God

Happiness in spite of all our short-comings is within reach of us all, if we are willing to make the most of

our life on earth and have only a purpose in life.

True happiness lies in the state of quiescence where human soul would at last taste peace and tranquillity and as such silent hours spent in inner abode will strengthen our steps towards the real peace and Happiness.

---

when during meditation heart goes out of view, what remains in its place may be taken as consciousness.

People worship but generally without thought or will It is of no avail.

Everyone wants peace. That means realisation is not the aim. In that case one may get peace but not realisation. But if realisation is the aim peace will automatically follow.

We should try to attain realisation but should not hanker after what it is.

Philosophers are born in the cave of mind and Yogis are barn in the cave of heart. So please, for mental questions consult a philosopher who remains ever in the gloomy dungeon. He will be the only fit man to reply philosophic question. While a Yogi can reply questions pertaining to the real craving of the soul.

I do not understand whether you want to evaluate the mind or weigh the ego. Thoughts never come to an end. They may however be only 'almost dead'. If thoughts are totally washed away, one will attain a perfectly balanced state just as it was before the world came into being. But this being beyond the true nature of being, so one is sure to lose his life in that case.

(Master's thoughts)

Experiences of an Abhyasi

I remember full well how after a preparation of roughly two years, the master Shri Ram Chandra Ji, insisted that I should accept task of being a preceptor of the Shri Ram Chandra Mission. I indeed felt I was hardly prepared to train others on the path, but the Master assured me that I was fitted to do the job and that it was something that I owe to him for having taken me to higher levels of spirituality. I however accepted the job, though reluctantly.

I had my own difficulties. Events in my life had led to crises after crises so much that I became disillusioned with idolworship, though I was encouraged to hope that my spiritual evolution was not at all in peril and that only my material and professional life were in unceasing conflict. It does not seem to be pertinent to narrate all of them, suffice it to say that I was unable to accept that all these defeats and humiliations were verily due to the Grace of God or his gifts to me. Now after a lapse of time, thanks to the inspiring transformation effected in my consciousness or being by the Master I am somewhat able to accept the fifth commandment of Sahej Marga.

Thus it was as an intellectual that I started anb my intellectual work even when it was tuned to the poetic poise didnot satisfy me. I begen seriously to question all fundamentals. The master helped me a lot in giving me the level of approach necessary. However it did not strike as natural to me. Advaita in its Mayavadic phase did not appeal to me. The concept of the Absolute as Zero was something that I could not accept. The presentation of thought was clearly nearer to the Advait technique rather than any other. I was willing however to experiment.

I started my work as a preceptor and began to transmit to Abhyasis Transmission means the passing of the super-conscious force or thought to the individual Abhyasi who has come for training. Firstly I was not aware of the possession of this power of transmission. It was only the Master's assurance that the force will move to the Abhyasi, the moment one willed to transmit. I did this and I discovered that the abyasis felt the entry of a force into their heart region. Sometmes they felt it all over or at particular points. They experienced the Calm in their heart and then inexplicably all over. Slowly I began to discover that the Superconscious force for which I had become a conditpipe so to speak or live wire or connection cennecting the abhyasis with the Master who is the central Store-house of power was capable of working automatically even when my own individual thoughts did not get transmitted or get mixed up with the super-consciousness. This was a clear assurance and experience for the abyasis never for once till now spoke of my thoughts

or ideas as having occured to them. No abhyasi or trainee however at any time had access to my personal thoughts or feelings.

The other important point was though at the beginning I was not able to perceived the condition of the abhyasi, later I began to see the inner condition of the abhyasi. This is said to be very neecssary for the preceptor has to clean the points of dirt and darkness and also untie the knots at different points or whereever they are discovered. Thus I saw dark spots in the diffe ent regions of the abhyasi and these were removed by an act of thought firmly and thrown out. Indeed the transmitted force itse f was capable of removing all dirt and this will on the part of the preceptor was necessary. The perception of the individual's condition and the process by wh ch the dirt and dark spots or areas of the individual is removed is only to be experienced to make it credible. This removal leads to the experience on the part of the individual of santi or calmness Indeed he is not as much aware of the removal.

But in some cases it has been known, as in my own case, that great emotional experiences arise when the dirt or darkness on the mountain of samskaras are being removed. They are seen in a way by the abhyasi and at the end of the same there is great relief and lightness. Calmness and lightness are almost the first gifts of transmission.

Though many times I have had the joy of getting reports from the abhyasis about their inner condition, of light, lightness, colours of different-kinds, it was also seen that they also reported no change at all.

But after I took up the work of the preceptor what resulted was the responsibil ity of transmission of the Masters's superconscious force. I was in constant remembrance and actively involved. The number of abhyais was not more than the regular dozen. At the beginning only the weekly Sat Sangh was there. Later I had requested some to come and avail of the individual transmission at fixed hours on certain days. Constant remembrance on my pa t became natural and there was also joy of doing work for the Master. Thus for a preceptor the constant work of transmission leads to constant remembrance.

Personally I found that I was dissolving in the Master's consciousness I felt myself as the body of the Master in transmission and that He was my self. This of course is the sarira-sariri-bhava of Visistadvaita of Ramanuja which I put into effect in my transmission. This helped me to be in firm and dynamic oneness with the master. This is the helpfulness of the imagination of sariratva of the Master. It abolished my egoism I am sure and made me pass throug the rings of egoism beyond the pindapradesh or Pancagni.

or ideas as having occured to them. No abhyasi or trainee however at any time had access to my personal thoughts or feelings.

The other important point was though at the beginning I was not able to perceived the condition of the abhyasi, later I began to see the inner condition of the abhyasi. This is said to be very neecssary for the preceptor has to clean the points of dirt and darkness and also untie the knots at different points or whereever they are discovered. Thus I saw dark spots in the diffe ent regions of the abhyasi and these were removed by an act of thought firmly and thrown out. Indeed the transmitted force itse f was capable of removing all dirt and this will on the part of the preceptor was necessary. The perception of the individual's condition and the process by wh ch the dirt and dark spots or areas of the individual is removed is only to be experienced to make it credible. This removal leads to the experience on the part of the individual of santi or calmness Indeed he is not as much aware of the removal.

But in some cases it has been known, as in my own case, that great emotional experiences arise when the dirt or darkness on the mountain of samskaras are being removed. They are seen in a way by the abhyasi and at the end of the same there is great relief and lightness. Calmness and lightness are almost the first gifts of transmission.

Though many times I have had the joy of getting reports from the abhyasis about their inner condition, of light, lightness, colours of different-kinds, it was also seen that they also reported no change at all.

But after I took up the work of the preceptor what resulted was the responsibil ity of transmission of the Masters's superconscious force. I was in constant remembrance and actively involved. The number of abhyais was not more than the regular dozen. At the beginning only the weekly Sat Sangh was there. Later I had requested some to come and avail of the individual transmission at fixed hours on certain days. Constant remembrance on my pa t became natural and there was also joy of doing work for the Master. Thus for a preceptor the constant work of transmission leads to constant remembrance.

Personally I found that I was dissolving in the Master's consciousness I felt myself as the body of the Master in transmission and that He was my self. This of course is the sarira-sariri-bhava of Visistadvaita of Ramanuja which I put into effect in my transmission. This helped me to be in firm and dynamic oneness with the master. This is the helpfulness of the imagination of sariratva of the Master. It abolished my egoism I am sure and made me pass throug the rings of egoism beyond the pinda-pradesh or Pancagni.

Another experience also occurred. I found myself being kept within the body of the Master and carried along and diving into the Ocean depths of the Infinite. I was securely calm in the bosom of the Master. He was verily my body and my soul or self. However fearless it made me the world's oppressive presence was with me periodically. Indeed Master wrote to me to think of them as His own as I was all his own. Indeed once he asked me as to whether I had discovered where he was in me. This process of being in the Master was of course thrilling and calmness began to be powerful when transmissions were given to abhyasis. Indeed Master wrote to me that the abhyass progressed rapidly because I was progressing rapidly.

It is true that I was not aware of the locations of the points A and B in the Heart Region either in myself or in the abhyasis at the beginning. Nor did I know about the points of citta, jnana, atma, fire and water-air in the Pindapradesh. It is only when Master made me transmit under his guidance that I learnt the method of transmitting so as to further the yatra in the Heart region. It has now become invariably my work to turn the centre clockwise at the beginning to set it in motion and then very slowly lead it up to the next centre or point. However if there was a slight twisting or obstruction in the passage I used to concentrate attention on that point and turn it and remove the dark spots or obstruction. Thus the abhyasi who was unaware of all this used to feel increased calm. Sometimes the abhyasis used to sit on for sometime after. Sometimes they used to feel jerks and sometimes even lost consciousness. Invariably they didnot feel time passing at all. One sure sign of progress in the abhyasi was always the increased calm. Recently one abhyasi came and asked me as to why he saw nothing at all. I enquired whether he was getting more and more calm. He admitted that his awareness of calm was growing very much. I told him that is the thing-the real thing, not visions or sounds or anyother as they may not bear calmness nor increase it. The Master's presence is felt from the very moment by the calm that has set itself permanently within one.

Again and again I had the experiences of the abhyasis complaining that they heve not made any progress. They were very similar to what I was myself writing to the Master. It has been one of the most difficult things for me to try to explain that the abhyasi was progressing and reqest him to look into his own condition (even as the Master was writing to me in reply) and invariably they were able to feel the presence of the calm.

I found that though some abhyasis after initiation into transmission did not turn up (owing to their loyalties to ista-devatas and profession and others), some did turn up regularly to the Sat-sanghs and indeed some have asked for individual sittings. Surely a few

did it for the sake of pleasing me, but the majority did the same for getting more and more of the calm. It is clear that gteater calmness cannot settle down in the individual unless his higher centres are purified and he is also doing his yatra or pilgrimage.

My own progress depended very many times on the progress of the work of transmission of the Master's superconsciousness to the individual abhyasis. The constant dual awareness or work and personal experiences, however, did not do much more than sending in me a depressive feeling. Master indeed wrote about the depressive feeling as not warranted by my development. I discovered that beneath the surface of my consciousness there was a desire for power for siddhis and so on. Thanks to Master's grace their attraction for me has been reduced. The apparent subtle desire for this kind of egoism is mainly owing to the world-interests and concern for world welfare, social political and individual. But in the Universe of God one is just called upon to do the humble service of Him through purification and transmission and this itself is a great work as will be seen in the long run. Spectacular miracles are not in the work but hard transmutation or taming of the animal in man.

The abhyasis used to tell me that they used to experience the presence of the Master and myself too in their periods of meditation and at other times also by means of sense of vibrations, even as I used to.

SHRI RAM CHANDRA MISSION

Founded in 1945

by

His Holiness Shri Ram Chandra Ji Maharaj

President

Head quarters ....Shahjahanpur U. P.

Branches and Training Centres:-

1	Lakhimpur-Kheri (U. P.)	under	Sri	Ishwar Sahai
2	Puranpur (Pilibhit)	"	"	Karuna Shankar
3	Lucknow	"	"	Satya Pal
4	Moradabad	"	"	R. C. Saxena
5	Bareilly	"	"	Naraen Sahai
6	Delhi	"	"	S.K.Rajagopalan
7	Tinsukia (Assam)	"	"	Ram Das Gupta
8	Madras (South India)	"	"	C.M.T.Mudaliar
9	Vijayavada	"	"	N.Kumaraswami
10	Tirupati	"	"	K C.Varadachari
11	Bellary	"	"	Raghavendra Rao
12	Seram (Gulbarga)	"	"	Ayal Reddy
13	Banglore	"	"	R. Seshodari
14	Mangalore	"	"	Sripathi Sarnad

—o—